महर्षि याज्ञवल्क्य प्रणीत

याज्ञवल्क्य शिक्षा

प्रकाशिका टीका (हिन्दी)

वेदाचार्य साहित्याचार्य पं० विद्याधर पाण्डेय

१९७८

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रणीत

याज्ञवल्क्य शिक्षा

प्रकाशिका टीका (हिन्दी)

टीकाकार :
वेदाचार्य साहित्याचार्य पं० विद्याधर पाण्डेय
एम० ए० (संस्कृत हिन्दी)
अध्यापक रणवीर संस्कृत विद्यालय,
कमच्छा, वाराणसी

गुरुपूर्णिमा]

[सं० २०३४

मुद्रक
शिवनारायण उपाध्याय
नया संसार प्रेस
भदैनी, वाराणसी—१

प्रथम संस्करण
१००० प्रति

मूल्य ३)

भूमिका

शिक्षा ग्रन्थों की उपादेयता वेदाङ्ग होने से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शिक्षाशब्द योगरूढ़ शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है। "शिक्षयति या सा-शिक्षा" "शक्तु शक्तो भवितुम् इच्छा"। तैतिरीय उपनिषद के अनुसार "अथ शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वर, मात्रा, वलं, साम, सन्तानः इत्युक्तः शिक्षाध्यायः" वर्ण स्वर मात्रा वल साम सन्तान ये विषय शिक्षा-शास्त्र के हैं। अतः भाष्यकारों ने शिक्षा शब्द का वर्णाद्युच्चारण लक्षणं शिक्षते अनया सा शिक्षा" ऐसा लक्षण किया है। शिक्षा ग्रन्थों के सम्पूर्ण विषय प्रातिशाख्यों में भी सम्यक् रूप से वर्णित हैं अतः प्रातिशाख्य भी शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं। शिक्षा शास्त्र का इतिहास प्राचीनतम एवं विशाल है। आज तक उपलब्ध एवं अनुपलब्ध शीक्षाग्रन्थों की सूची देखने से यह सिद्ध होता है कि व्याकरणादि अंग ग्रन्थों से इसकी महत्ता तथा विस्तार कम नहीं रहा है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित कई शिक्षायें हैं जिनमें याज्ञवल्क्य शिक्षा का स्थान विशिष्ट गौरवपूर्ण है। इसके पठन-पाठन की अति प्राचीन परम्परा रही है जो इसके टीकाओं को देखने से ज्ञात होती है।

याज्ञवल्क्य शिक्षा की शिक्षा-आलोक नाम की संस्कृत टीका पं० श्री विश्वनाथ शास्त्री ने की है। पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने इसकी भाषा टीका की है। पं० अमरनाथ दीक्षित जी ने अत्यन्त श्रमपूर्वक शिक्षावल्ली नामक संस्कृत टीका लिखी है यह टीका भाष्य के समान अत्यन्त ही उपयोगी एवं सुबोध है। इस टीका का भाषानुवाद वैदिक साहित्य के मनन में अत्यधिक सहायक सिद्ध होगा। दीक्षित जी ने कई विभिन्न प्रतियों का अवलोकन कर शुद्ध पाठ का निर्णय किया है। पुस्तक की अनुपलब्धि एवं संस्कृत टीका से छात्रों के काठिन्यका अनुभव कर भाषाटीका करने की प्रेरणा हुई। चौखम्बा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित शिक्षासंग्रह नामक ग्रन्थ में ३० शिक्षाओं का संकलन है। इसके अतिरिक्त डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने अपने निबन्ध (प्राचीन भारतीय ध्वनि विज्ञान का

समीक्षात्मक अध्ययन) ग्रन्थ में कुछ और अन्य शिक्षाओं के नाम गिनाए हैं। श्री पं० मधुकर फाटक जी ने अपने निबन्ध ग्रन्थ "पाणिनीय शिक्षा का अन्य शिक्षाओं के साथ समीक्षा" में शिक्षाओं की संख्या ५५ दी है। इनमें कुछ प्रकाशित हैं कुछ अप्रकाशित हैं। वेदों के आधार पर इन शिक्षाओं का वर्गीकरण कर अर्थयुक्त सम्पादन होना चाहिए। शिक्षा संग्रह में निम्नलिखित शिक्षाओं का संग्रह है।

१—वाशिष्ठी शिक्षा। २—कात्यायनी शिक्षा। ३—पाराशरी शिक्षा। ४—माण्डवी शिक्षा। ५—अमोघानन्दिनी शिक्षा। ६—लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा। ७—माध्यन्दिनीय शिक्षा। ८—लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा। ९—वर्ण रत्न प्रदीपिका शिक्षा। १०—केशवी शिक्षा। ११—केशव कृता पद्यात्मिका शिक्षा। १२—मल्लशर्म कृता शिक्षा। १३—स्वराङ्कुशा शिक्षा। १४—षोडष श्लोकी शिक्षा। १५—अवसान निर्णय शिक्षा। १६—स्वरभक्ति लक्षण परिशिष्ट शिक्षा १७—क्रम सन्धान शिक्षा। १८—गलदृक् शिक्षा। १९—मन:स्वार शिक्षा २०—प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा। २१—यजुर्विधान शिक्षा। २२—स्वराष्टक-शिक्षा। २३—क्रमकारिका शिक्षा। २४—पाणिनीय शिक्षा। २५—नारदीय शिक्षा। २६—गौतमी शिक्षा। २७—लोमशी शिक्षा। २८—माण्डूकी शिक्षा। २९—अथर्व परिशिष्ट।

इसके अतिरिक्त व्यास शिक्षा, शौनक शिक्षा, शैशरीय शिक्षा आदि बहुत सी शिक्षायें हस्त लिखित मद्रास एवं दिल्ली के पुस्तकालयों में पड़ी हैं।

व्यास शिक्षा का सम्पादन पं० पट्टाभिराम शास्त्री जी ने किया है। शौनक शिक्षा भी प्रकाशित है।

शिक्षा संग्रह में संग्रहीत शिक्षाओं का संक्षेप में विवरण इस प्रकार है—

१. वाशिष्ठी शिक्षा

इस शिक्षा में सर्वानुक्रमणिका के आधार पर वाजसनेयी शाखा की संहिता के ऋक् और यजु: की संख्या बतायी गयी है। साथ में छन्दों का भी निर्देश है।

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि वाशिष्ठस्य मतं यथा ।।
सर्वानुक्रम मुद्घृत्य ऋग्यजुषो स्तु लक्षणम् ।।

अन्तमें--

एकी कृत्वा ऋचः सर्वा, मुनिषड्वेदभूमिताः ।
अब्धिरामाथवाज्ञेयो वशिष्ठेन च धींमता ।।
एवं सर्वाणि यजूंषि रामाश्विवसु युग्मकाः ।
अथवा पञ्चभिन्यूंना संहितायां विभागतः ।।

इन श्लोकों के अनुसार ऋक् संख्या १४६७ तथा यजुः संख्या २८२३ है ।

२. कात्यायनी शिक्षा

इस शिक्षा में १३ श्लोक हैं । इनपर जयन्त स्वामी की टीका है । इसमें स्वरित के भेद तथा संधि होने पर उनकी स्थिति का वर्णन है । भेद पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है । स्वरित स्वर के विषय में कुछ नई बातें कही गयी हैं । उदात्त अनुदात्त का भी वर्णन है ।

३. पाराशरी शिक्षा

इस शिक्षा में १६० अनुष्टुप् छन्द हैं । पहले कण्डिकाओं के वर्णों की गणना की गयी है । हलन्त मकार के उच्चारण की विधि बतायी गयी है । इसकी समता याज्ञवल्क्य शिक्षा से बहुत स्थलों पर है ।

४. माण्डवी शिक्षा

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि शिष्याणां हितकाम्यया
माण्डव्येन यथा प्रोक्ता ओष्ठ्य संख्या समाहृता

इस शिक्षा में शु. य. वे. सं. के ४० अध्यायों में आए हुए ओष्ठ्य वर्णों का संग्रह मात्र है ।

५. ६. अमोघानन्दिनी शिक्षा

अमोघा नन्दिनी शिक्षा के नाम से दो शिक्षाएँ उपलब्ध हैं। १—अमोघा नन्दिनी शिक्षा २—लघ्वमोघा नन्दिनी शिक्षा। पहली में १५० श्लोक हैं १ से १५ तक ओष्ठ्य बकार तथा दन्त्य वकार का विचार है। शेष पाराशरी शिक्षा तथा याज्ञवल्क्य शिक्षा की ही बातें कही गयी हैं।

दूसरी में १७ श्लोक हैं जिनमें य कार का उच्चारण जकार कहाँ कहाँ होता है। अनुस्वार के भी ह्रस्व तथा दीर्घ उच्चारण के स्थल वर्णित हैं।

७. ८. माध्यन्दिनीय शिक्षा

यह शिक्षा भी दो प्रकार की उपलब्ध है। १—माध्यन्दिनीय शिक्षा एवं २—लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा।

पहले में प्रथमतः वर्णों के द्वित्व–उच्चारण प्रक्रिया के विषय में विचार किया गया है। स्वर से परे व्यञ्जन और व्यन्जन से परे व्यञ्जन कैसी परिस्थितियों में द्वित्व उच्चरित होते हैं यह दिखाया गया है। किन स्थलों पर द्वित्व उच्चरित नहीं होते यह भी बताया गया है। (१ से ७ श्लोक) तक इसके बाद क वर्गीय ख कार का निरुपण है कि किन किन मन्त्रों में शुद्ध कवर्गीय खकार है। तत्पश्चात् गलित ऋचाओं की सूची दी गयी है।

दूसरी लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा में पहले यह विचार किया गया है कि षकार का उच्चारण खकार कहाँ होता है और कहाँ नहीं होता है। पुनः यकार का जकार उच्चारण कहाँ कहाँ होता है यह विवेचन किया गया है। इसके बाद वकार का उच्चारण किन स्थलों पर लघु तथा दीर्घ (गुरु) होता है यह बताया गया है। रकार का उच्चारण रेकार के समान तथा लकार का उच्चारण ले कार के समान कहाँ होता है यह निर्दशित है। अनुस्वार का गूँम् उच्चारण के स्थल निर्दिष्ट करते हुए अयोगवाहों का वर्णन किया गया है।

९. वर्णरत्न प्रदीप शिक्षा

इसके रचयिता अमरेश हैं। इस शिक्षा में २२७ श्लोक हैं। वस्तुतः यह शिक्षा याज्ञवल्क्य शिक्षा की टीका का कार्य करती है। कुछ ही विषय ऐसे हैं जिन पर इसमें कुछ विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रथमतः स्वर इक्कीस एवं उनके दूने व्यञ्जन बयालीस दोनों मिलाकर वर्णों की ६३ संख्या का प्रतिपादन है। "द्विस्स्पृष्ट" विषय को लेकर विवाद है।

इसके बाद उपधादि संज्ञाओं का वर्णन है। पुनः स्थान एवं करणों का विवेचन है। इसके बाद प्रयत्नों का विवेचन है। आस्य प्रयत्न ६ प्रकार के माने गए हैं। संवृत, विवृत, अस्पृष्ट, स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, अर्धस्पृष्ट। आगे व्यञ्जनों को पूर्वाङ्गता पराङ्गता का निर्देश है। आयोग वाहों की स्थिति का वर्णन है। आठ प्रकार के स्वरितों का उल्लेख है। संधियों का वर्णन हैं। हस्तचालन क्रिया का भी प्रतिपादन किया गया है। •उदात्तादि संधिस्थलों, व्यञ्जनसंधियां अपवाद पूर्वक निर्दशित हैं। व्यञ्जनों एवं स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ उच्चारण के स्थल उदाहृत हैं। अन्त में वर्णों के रूप, देवता, गोत्र, ऋषि आदि का प्रतिपादन है।

१०. ११. केशवी शिक्षा

इस शिक्षा के रचयिता पं० केशव दैवज्ञ हैं। यह शिक्षा सूत्रात्मक है इसमें नव सूत्र हैं। पुनः इसकी टीका भी केशव दैवज्ञ ने ही पद्य में की है। ६ कारिकाएँ टीका स्वरूप हैं। "अथ तत्कृता पद्यात्मिका शिक्षा" के अनुसार २१ कारिका वद्ध श्लोकों में पद्यात्मिका शिक्षा की रचना की है। प्रायः सूत्रों के अर्थानुसार ही कीरकाएँ हैं। इसमें वकार का द्वित्वोच्चारण, यकार का जकारोच्चारण, षकार का खकारोच्चारण, ऋकार का रेकारोच्चारण, अनुस्वार का ह्रस्व दीर्घोच्चारण, वर्गान्तों का द्वित्वोच्चारण, सकार के द्वित्वोच्चारण का निषेध, प्रभृति का विचार है।

१२. मल्लशर्म कृता शिक्षा

इस शिक्षा में सब मिलाकर ६५ श्लोक हैं। इसमें वर्णित विषयों की नामावली इस प्रकार है—स्वरज्ञान की महिमा, स्वरितादिक-स्वरों के प्रदर्शन की हस्तचालन की संक्षिप्तविधि, हस्तस्वरगति प्रमाण, विसर्ग-उच्चारण प्रमाण, अंगुलियों का निस्सरण, तर्जनी अंगुष्ठ का वेष्टन समय, मुष्टिकरण, रेफ का उच्चारण, ब्राह्मण-स्वरप्रक्रिया, रंग-महारंग-अतिरंग का विवेचन एवं उच्चारण, द्वि-स्वर क्रम, वर्णों के उच्चारण स्थानादिकों का विवेचन है।

१३. स्वरांकुशा शिक्षा

इस शिक्षा के रचयिता जयन्त स्वामी हैं। इसमें २५ श्लोक हैं। कुछ लोग (मल्ल शर्मा) इसे रावणकृत मानते हैं। इसमें केवल स्वरित के आठ भेदों—उपभेदों का ही वर्णन मात्र है। यह शिक्षा ऋग्वेद की है। अन्त में २३ वें श्लोक में लिखा है—

जयन्त स्वामिना प्रोक्ता: श्लोकाना मेक विंशति: ।
स्वरांकुशेति विख्याता वह्वृचां स्वरसिद्धये ॥

१४. षोडष श्लोकी शिक्षा

इसके रचयिता श्री राम कृष्ण हैं। इसमें स्वर-व्यञ्जन की संख्या, उच्चारण स्थान, प्रत्याहारों की गणना, विसर्गादिकों का विवेचन है।

१५. अवसान शिक्षा

इसके रचयिता श्री अनन्त देव हैं। इसमें केवल अवसानों की संख्या वतायी गयी है। संवत् १९४६ फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा गुरुवार को यह लिखी गयी।

१६. स्वर भक्ति लक्षण परिशिष्ट शिक्षा

इस शिक्षा के रचयिता महर्षि कात्यायन हैं। इस शिक्षा में प्रथमतः स्वरित के आठ भेद सोदाहरण उदाहृत हैं। पुनः वर्णों के उच्चारण प्रकार का वर्णन है।

इसके बाद स्वर भक्तियों का उदाहरण पूर्वक प्रतिपादन है। इसमें "पाणिनीयस्य" पद आया है जो विचारणीय है।

१७. क्रमसन्धान शिक्षा

इस शिक्षा में ११५ क्रमसन्धानों की संख्या गिनाई गयी है।

१८. गलदृक् शिक्षा

इस शिक्षा में कालक्रम से विलुप्त ऋचाओं की संख्या बतायी गयी है। अन्त में लिखा है—"इति लुप्तक्संङ्ख्यात्मिका शिक्षा समाप्ता"।

१९. मनःस्वार शिक्षा

इसके अन्त में "इति महर्षि योगियाज्ञवल्क्य कृता मनः स्वार शिक्षा समाप्ता' लिखा है।

इसमें शुक्ल यजुर्वेद संहिता के ४० अध्यायों में कितने पद कितने अक्षर उदात्त, अनुदात्त आदि हैं इसका विवेचन किया गया है।

२०. प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा

यह शिक्षा बहुत बड़ी है। नाम से ही ज्ञात होता है कि प्रातिशाख्य के अनुसार ही लिखी गयी है। इसके रचयिता बालकृष्ण गौड़ हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन्हों ने लिखा है कि मैं प्रातिशाख्य और शिक्षा ग्रन्थों का अवलोकन कर पाठकों की सुविधा के लिए इस शिक्षा का निर्माण करता हूँ। इस शिक्षा में विकृतियों के लक्षण उदाहरण भी दिए हुए हैं।

२१. वेदपरिभाषा सूत्र शिक्षा

इसके रचयिता पण्डित सिद्धेश्वर के पुत्र श्री पं० रामचन्द्र हैं।

२२. यजुर्विधान शिक्षा

इस शिक्षा में यजुर्मन्त्रों का कामनाओं की पूर्ति के लिए विधान तथा विनियोगों का निर्देश है।

२३. स्वराष्टक शिक्षा

इस शिक्षा में स्वर-संधि, व्यञ्जन-संधि, उदात्त अनुदात्त स्वरित को संधियों का विवेचन उदाहरण पूर्वक किया गया है।

२४. क्रम कारिका शिक्षा

इस शिक्षा में क्रम पाठ के अवसर पर किन किन पदों का वेष्ट न होता है इसका प्रतिपादन किया गया है। इसमें ९२ श्लोक हैं। इसके लेखक शम्भु मिश्र हैं। श्लोक संख्या सात में लिखा है—

प्रत्यक्षं याज्ञवल्क्यस्य श्री शम्भु मिश्र विनिर्म्मिता।
क्रियतां क्रमिकैः कण्ठे कारिका रत्नमालिका॥

२५. पाणिनीय शिक्षा

यह शिक्षा कई बार प्रकाशित हो चुकी है। संस्कृत हिन्दी में टीकाएँ उपलब्ध हैं।

२६. नारदीय शिक्षा

यह शिक्षा सामवेदीया है। इसके भी कई संस्करण छप चुके हैं।

२७. गौतमी शिक्षा

यह शिक्षा भी सामवेद सम्बन्धिनी है। यह गद्यात्मिका है तथा दो प्रपाठकों में पूर्ण है।

२८. लोमशी शिक्षा

यह शिक्षा भी सामवेदीया है। इसमें आठ खण्ड हैं। प्रथमतः ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, रङ्ग, स्वरभक्ति आदि का सोदाहरण वर्णन है। इसके वाद व्यञ्जनों की उच्चारण विधि, स्थान आदि का वर्णन है।

२९. माण्डूकी शिक्षा

यह शिक्षा १७९ श्लोकों में लिखी गयी है। इसे अथर्ववेदीय कहा जाता है। इसमें पाणिनीय शिक्षा और याज्ञवल्क्य शिक्षा का सम्मिश्रण है। इसमें स्वर चार माने गए हैं उदात्त अनुदात्त स्वरित और प्रचित।

३०. अथर्व परिशिष्ट

इसका शिक्षा ग्रन्थों से सम्बन्ध नहीं है।

पं० गोपाल चन्द्र मिश्र जी के द्वारा लिखित "सम्प्रदाय बोधिनी शिक्षा" भी इधर कुछ वर्षों से प्रकाशित हुई है। यह याज्ञवल्क्य शिक्षा का अत्यन्त लघुकरण प्रयास मात्र है।

महर्षि याज्ञवल्क्य का परिचय

याज्ञवल्क्य वैदिक ऋषि हैं। इनका उल्लेख शतपथब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत स्कन्दपुराण, श्री मद्भागवत तथा धर्मसूत्रों में है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ये दीर्घजीवी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम देवरात या ब्रह्मवाह था। वायु पुराण के अनुसार ये ब्रह्मा के पुत्र थे। (अ० ६०।४२) विक्रम की सातवीं शताब्दी में याज्ञवल्क्य-स्मृति के टीकाकार विश्व रूप आचार्य ने लिखा है कि "यज्ञवल्क्यो ब्रह्मा इति पौराणिकाः, तदपत्यं याज्ञवल्क्यः"। आचार्य भगवद्दत्त जी ने अपने वैदिक वाङ्मय के इतिहास में इनको कौशिक वंश का माना है। महर्षि वेदव्यास के शिष्य महर्षि वैशम्पायन इनके मामा थे। महाभारत शान्ति पर्व में लिखा—

कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शत मुत्तमम्।
विप्रियार्थं सशिष्यस्य मातुलस्य महात्मनः ॥ (३२३।१६) ॥

महर्षि वैशम्पायन से इनका विवाद प्रसिद्ध है। वैशम्पायन इनके प्रथम गुरु थे। शतपथ ब्राह्मण १४।९।३।१५-२० से ज्ञात होता है कि उद्दालक आरुणि

इनके दूसरे गुरु थे। आख्यायिका के अनुसार इन्होंने भगवान् सूर्य से वेदाध्य
किया था। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में याज्ञवल्क्यजी अध्वर्यु का पद ग्रहण कि
थे। (सभापर्व अ० ३६ श्लो० ३३-३५)

अध्याय ७२ श्लोक ६ के अनुसार युधिष्ठिर ने इनकी पूजा की। युधिष्ठि
के पुत्र परीक्षित, पौत्र जनमेजय प्रपौत्र शतानीक ने इनसे वेदाध्ययन किया था।

इनके शिष्यों ने पठन पाठन के द्वारा शु० म० की १५ शाखाएँ चला
(विष्णु पुराण ४।२१)

इनकी दो पत्नियां थीं। मैत्रेयी एवं कात्यायनी। मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थ
याज्ञवल्क्य जी योगीश्वर ही नहीं अपि तु महायोगीश्वर थे। विदेह राज ज
की सभा में अन्य महर्षियों के साथ इनका संवाद इनकी ज्ञान गरिमा का सू
है। शाखा प्रवचन काल महाभारत से भी पूर्व माना जाता है। शंख लिखित ध
सूत्र में भी इनका नाम है। अतः ये अत्यन्त प्राचीन ऋषि हैं। आधुनिक इति
कारों के मत से इनका समय ईशापूर्व तीसरी शताब्दी से भी पूर्व है। स
पुराण नागर खंड १७४।५५ के अनुसार भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा पर सौ
प्रान्त के अन्तर्गत त्रिगर्त प्रदेश था जिसकी राजधानी चमत्कारपुर थी।
आस पास ही याज्ञवल्क्य जी का आश्रम था। याज्ञवल्क्य स्मृति के अ
मिथिला में भी इनका द्वितीय आश्रम था। स्कन्दपुराण नागर खंड अध्याय
के अनुसार इनके पुत्र का नाम कात्यायन एवं पौत्र का नाम वररुचि था।
रचित ग्रन्थ—याज्ञवल्क्य शिक्षा, याज्ञवल्क्य-स्मृति, योग याज्ञवल्क्य, वृह
याज्ञवल्क्य स्मृति प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकाशिका हिन्दी टीका के लिखने में जिन ग्रन्थों से सहायता ली
है उन ग्रन्थकारों के प्रति मैं आभार प्रदर्शित करता हूँ।

विद्याधर प

श्री गणेशाय नमः

याज्ञवल्क्य शिक्षा

अथ याज्ञवल्क्य शिक्षा

अथाऽत स्त्रैश्वर्यं लक्षणं व्याख्यास्यामः।

इस सूत्र में आचार्य याज्ञवल्क्य प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं उदात्त अनु-
और स्वरित इन तीन प्रधान स्वरों के अवान्तरभेदों के साथ इनके
रण एवं स्वरूपादि भेदों की विवेचना करूँगा।

अथ शब्द माङ्गलिक है। ग्रन्थारम्भ में अथ शब्द लिखने की प्रथा
प्राचीन है। अथ शब्द आनन्तर्य का भी बोधक है। अथ शब्द
में अर्थ होता है "इसके बाद"। यहां प्रश्नउठता है किसके

बाद ? इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिए यह कहना पड़ता है कि वे
ध्ययन के बाद कर्मानुष्ठान के लिए अर्थ ज्ञान की आवश्यकता होती
मन्त्रों के अर्थ ज्ञान की तरह मंत्रों के ठीक-ठीक उच्चारण की
महत्ता है । उच्चारण के सम्यक् ज्ञान के लिए शिक्षा का ज्ञान अत
श्यक है । इस प्रकार शिक्षा रचना की उपादेयता सिद्ध होती है ।

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः ॥
लक्षणं वर्णयिष्यामि दैवतं स्थानमेव च ॥ १ ॥

उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित ये तीन प्रकार के स्वर होते हैं
इनके लक्षण, देवता, वर्ण, स्थान गोत्र इत्यादि का वर्णन करूँगा

शुक्लमुच्चं विजानीयान्नीचं लोहितमुच्यते ।
श्याम‌न्तु स्वरितं विद्यादग्निमुच्चस्य दैवतम् ॥ २ ॥

उदात्त का रंग श्वेत होता है, अनुदात्त का रंग लाल
है, स्वरित का वर्ण काला जानना चाहिए । उदात्त का
अग्नि है ॥२॥

नीचे सोमं विजानीयात्स्वरिते सविता भवेत् ॥
उदात्तं ब्राह्मणं विद्यान्नीचं क्षत्रियमेव च ॥ ३ ॥

अनुदात्त के देवता सोम और स्वरित के देवता सविता हैं ।
ब्राह्मण जाति का तथा अनुदात्त क्षत्रिय जाति का होता है ॥ ३

वैश्यन्तु स्वरितं विद्याद् भारद्वाजमुदात्तकम् ॥
नीचं गौतममित्याहुः गार्ग्यं च स्वरितं विदुः ॥ ४

स्वरित की जाति वैश्य है । उदात्त का भारद्वाज गोत्र, अनु
गौतम गोत्र तथा स्वरित का गार्ग्य गोत्र है ॥ ४ ॥

विद्यादुदात्तं गायत्रं नीचं त्रैष्टुभमेव च।
जागतं स्वरितं विद्यादत एवं नियोगतः ॥ ५ ॥

उदात्त का गायत्री छन्द, अनुदात्त का त्रिष्टुप् छन्द तथा स्वरित का जगती छन्द होता है ॥ ५ ॥

गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ता सप्त षड्जादयः स्वराः ॥
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः ॥ ६ ॥

गान्धर्व वेद (संगीत शास्त्र) में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ये सात स्वर हैं। इनका अन्तर्भाव वेद के उदात्त अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वरों में ही है ॥ ६ ॥

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचा वृषभधैवतौ ॥
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षडजमध्यमधैवताः ॥ ७ ॥

निषाद और गान्धार स्वरों का अन्तर्भाव उदात्तस्वर में, ऋषभ धैवत स्वरों का अन्तर्भाव अनुदात्त स्वर में तथा षड्ज, मध्यम एवं [illegible] इन स्वरों का अन्तर्भाव स्वरित स्वर में होता है ॥ ७ ॥

षड्जो वेदे शिखण्ड्यास्य ऋषभः स्यादजामुखे ॥
गावो रम्भन्ति गान्धारं क्रौञ्चाश्चैव तु मध्यमम् ॥ ८ ॥
कोकिलः पञ्चमो ब्रूते निषादन्तु वदेद्गजः ॥
आश्वश्च धैवतो ज्ञेयः स्वराः सप्तेति गीयते ॥ ९ ॥

[मयू]र षड्ज स्वर में बोलता है। बकरी ऋषज स्वर में मिमियाती [है। गा]वें गान्धार स्वर में रँभाती हैं। क्रौञ्चपक्षी मध्यम स्वर से आला[पता है] कोकिल पञ्चम स्वर में कूजता है। हाथी निषाद स्वर में [चिंघा]ड़ता है। घोड़ा धैवत स्वर में हिनहिनाता है ॥ ८ ॥ ९ ॥

निमेषो मात्राकालः स्याद्विद्युत्कालस्तथापरे ॥
अक्षरात्तुल्ययोगाच्च मतिः स्यात्सोमशर्मणः ॥ १० ॥

स्वाभाविक रूप से पलकों के गिरने में जितना समय लगता है उतने समय का नाम 'मात्रा' कहा जाता है। दूसरे आचार्यगण जितने समय में बिजली चमकती है उतनी देर का नाम 'मात्रा' मानते हैं। आचार्य सोमशर्मा के मतानुसार एक अक्षर के उच्चारण के पश्चात् दूसरे अक्षर के उच्चारण तक के बीच का जो समय लगता है 'मात्रा' है ॥ १० ॥

सूर्यरश्मिप्रतीकाशात्कणिका यत्र दृश्यते।
अणुत्वस्य तु सा मात्रा मात्रा च चतुराणवा ॥ ११ ॥

सूर्य की किरणों में दिखायी देनेवाले छोटे-छोटे धूल के कणों के स्पन्दन में जो समय लगता है उसे अणुमात्रा कहते हैं। चार अणु-मात्राओं का समय मिलकर 'मात्रा' कहा जाता है ॥ ११ ॥

मानसे चाणवं विद्यात्कण्ठे विद्याद् द्विराणवम्।
त्रिराणवं तु जिह्वाग्रे निसृतं मात्रिकं विदुः ॥ १२ ॥

मानसिक अभिव्यक्ति में वर्ण की अणुमात्रा, कण्ठगत वर्ण की "द्वि अणुमात्रा" जिह्वाग्र में तीन अणुमात्रा तथा मुख से बाहर आने पर वर्ण की "मात्रा" (काल) होती है ॥ १२ ॥

अवग्रहे तु कालः स्यादर्धमात्रात्मको हि सः।
पदयोरन्तरे काले एकमात्रा विधीयते ॥ १३ ॥

पदपाठ में समस्त तथा असमस्त पदों की प्रकृति दिखलाने के लिए पदों के विच्छेद को अवग्रह कहते हैं। अवग्रह के उच्चारण में आधीमात्रा

समय लगाना चाहिए और दो पदों के बीच में एक मात्रा का व्यवधान होना चाहिए ॥ १३ ॥

ऋचोऽर्धे तु द्विमात्रः स्यात् त्रिमात्रः स्यादृगन्तके ।
रिक्तन्तु पाणिमुत्क्षिप्य द्वे मात्रे धारयेद्बुधः ॥ १४ ॥

ऋचाओं के मध्य में द्विमात्रिक विराम तथा ऋचाओं के अन्त में त्रिमात्रिक विराम होता है। विद्वान् को चाहिए कि वह 'रिक्तहस्त' के अवसर पर हाथ उठाकर दो मात्रा पूर्व वर्ण के स्वर के साथ रुका रहे, उस के बाद आगे के स्वरानुसार हाथ चलावे ॥ १४ ॥

विवृतौ चावसाने च ऋचोऽर्द्धे च तथा परे ।
पदे च पादसंस्थाने शून्यहस्तं विधीयते ॥ १५ ॥

विवृत्ति (खण्डाकार चिह्न ऽ), अवसान, मन्त्रों का अर्धभाग, अवग्रह, विसर्ग, पदपाठ, पादपूर्ति इन स्थलों को रिक्तहस्त कहते हैं ॥ १५ ॥

एकमात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनञ्चार्धमात्रिकम् ॥ १६ ॥

ह्रस्व का एक मात्रा, दीर्घ की दो मात्रा, प्लुत को तीन मात्रा तथा व्यञ्जन की अर्धमात्रा होती है ॥ १६ ॥

प्रणवं तु प्लुतं कुर्याद् व्याहृतिर्म्मात्रिका विदुः ।
चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं वायसोऽब्रवीत् ॥ १७ ॥

ओंकार के उच्चारण में तीन मात्राएं होती हैं। प्रत्येक व्याहृतियों (भूर्भुवः स्वः) के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है। नीलकण्ठ पक्षी की बोली एक मात्रा को तथा कौवा की बोली द्विमात्र की बोधिका होती है ॥ १७ ॥

शिखी वदति त्रिमात्रं मात्राणामिति संस्थितिः ।
वर्णो जातिश्च मात्रा च गोत्रं छन्दश्च दैवतम् ।। १८ ।।
एतत्सर्वं समाख्याते याज्ञवल्क्येन धीमता ।
हस्तौ सु संयतौ धार्यौ जानुनोरुपरि स्थितौ ।। १९ ।।

मयूर की बोली तीन मात्रा का बोध कराती है। इस प्रकार वेदों में मात्राओं का मापदण्ड इन पक्षियों के शब्द पर आधारित है। योगी याज्ञवल्क्य ने वर्णों के वर्ण (रंग), जाति, मात्रा, गोत्र, छन्द, देवता आदि का वर्णन उपर्युक्त प्रकार से किया है ।। १६ ।।

गुरोरनुमतिं कुर्यात् पठन्नान्यमतिर्भवेत् ।
ऊरुभागो तृतीये तु कूर्परं न्यस्य दक्षिणम् ।। २० ।।

अध्ययन के समय पालथी लगाकर बैठ जाना चाहिए। दोनों जंघाओं पर दोनों हाथों को अच्छी तरह रखे। (बाएँ हाथ का तलहथी दाहिने जंघा पर होवे और उसपर दाहिने हाथ की कुहनी रहनी चाहिए) ।।१६।।

गुरु की आज्ञा से पढ़ना प्रारम्भ करे। पढ़ते हुए अन्यमनस्क न होवे। जघे के तृतीयांश में दाहिनी कुहनी रखे ।। २० ।।

सुप्रसन्नमना भूत्वा किञ्चिन्नम्रस्त्वधोमुखः ।
निवेश्य दृष्टिं हस्ताग्रे शास्त्रार्थमनुचिन्तयेत् ।। २१ ।।

प्रसन्न मन होकर पढ़े। कुछ नम्रता से आगे झुकते हुए नीचे की ओर मुख रखे। दृष्टि को हस्ताग्र पर स्थिर करे। इस प्रकार वेदाभ्यास करना चाहिए ।२१ ।।

प्रणवं प्राक् प्रयुञ्जीत व्याहृतीस्तदनन्तरम् ।
येंण ततो वेदान् समारभेत् ।। २२ ।।

अध्ययनारम्भ के पहले ओंकार का उच्चारण करे, इसके बाद भूर्भुवः स्वः इन व्याहृतियों का उच्चारण करे। तत्पश्चात् गायत्री मन्त्र पढ़कर वेदाध्ययन प्रारम्भ करे ॥ २२ ॥

कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य चेष्टां दृष्टिं दृढं मनः ॥
स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीको वर्णानुच्चारयेद्बुधः ॥२३॥

विद्वान् को चाहिए कि वह अपने सभी अंगों को कछुए के समान समेट लेवे। अपनी चेष्टा, दृष्टि और मन को भी वश में कर शान्त चित्त तथा निर्भीक होकर वर्णों का उच्चारण करे (अध्ययन प्रारम्भ करे ॥ २३ ॥

नाभ्याहन्यान् न निर्हन्यान् न गायेन्नैव कम्पयेत् ॥
यथादावुच्चारयेद्वर्णांस्तथैवैनान् समापयेत् ॥२४॥

वर्णों का उच्चारण व्यत्यास से न करे। स्थान प्रयत्नों पर सावधानी रखे। गाकर शिर या गला कंपाकर वर्णों का उच्चारण न करे। अध्ययन के आरम्भ में जिस क्रम से उच्चारण का प्रारम्भ होवे उसी क्रम से समापन भी किया जावे ॥ २४ ॥

सममुच्चारयद्वर्णान् हस्तेन च मुखेन च ॥
स्वरश्चैव तु हस्तश्च द्वावेतौ युगपत्स्थितौ ॥२५॥
हस्तभ्रष्टः स्वरभ्रष्टो न वेदफलमश्नुते ॥

मुख से उदात्तादि वर्णों का उच्चारण तथा हाथ से स्वरों का चालन एक ही साथ होना चाहिए। क्योंकि स्वरों का उच्चारण और हाथ के द्वारा उनका प्रदर्शन दोनों के साथ ही होने का नियम है ॥ २५ ॥ स्वरों के उच्चारण तथा हस्तचालन में त्रुटि होने से वेदाध्ययन का फल नहीं मिलता है ॥

न करालो न लम्बोष्ठो नाऽव्यक्तो नानुनासिकः ॥२६॥
गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ॥

जिसके दाँत मुख से बाहर निकले हों, जिसके ओठ अधिक लम्बे हों, जो स्वभाव से मूर्ख हो, नासिका रागवाले, तुतलाकर बोलनेवाले, ऐसे लोग वर्णों का उच्चारण ठीक-ठीक नहीं कर पाते हैं ॥ २६ ॥

प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तौष्ठौ यस्य शोभनौ ॥ २७ ॥
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति ॥

जिसका शरीर सर्वांग सुन्दर हो, जिसके दाँत तथा ओठ सुन्दर हों। जो उत्साही एवं विनीत हो वही वर्णों का उच्चारण भलीभाँति कर सकता है ॥ २७ ॥

शङ्कितं भीतमुद्धृष्टमव्यक्त मनुनासिकम् ॥२८॥
काकस्वरं मूर्ध्निगतं तथा स्थानविवर्जितम् ॥
विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम् ॥२९॥
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश ॥

(१) यह उकार है या ओकार है इत्यादि प्रकार की शंकाओं से भरे रहना, (२) जानते हुए भी ठीक उच्चारण करने में भयभीत रहना, (३) क्रोधाविष्ट होने से उच्चारण का ठीक न होना, (४) स्पष्ट उच्चारण में असमर्थ होना, (५) निरनुनासिक वर्णों का भी अनुनासिकवत् उच्चारण करना, (६) कण्ठ को पीड़ित करते हुए बोलना, (७) अत्यन्त ऊँचे स्वर से उच्चारण करना, (८) वर्णों के स्थानों को बदलकर बोलना (९) स्वर रहित पाठ करना, (१०) रूक्षता से पढ़ना, (११) इधर-उधर हिलते रहना, (१२) दीर्घ का ह्रस्व तथा ह्रस्व का दीर्घ व प्लुत उच्चारण

करना (१३) चित्त के विक्षेप से स्थान प्रयत्नादिकों का विपर्यास होना, (१४) अत्यन्त शीघ्रता के कारण यतिहीन होना, अध्ययन में ये दस दोष हैं इनका त्याग करना चाहिए ॥ २८ ॥ २६ ॥

संहितासारबहुलः पदसंज्ञासमाकुलः ॥३०॥
क्रमसन्धिसमाकीर्णो दुस्तरो मन्त्रसागरः ॥

ऋग्यजुःसामाथर्व को संहिताओं से भरा हुआ, 'पद' पाठ से ओतप्रोत "क्रम" की संधियों से परिपूर्ण मन्त्रों का समुद्र दुस्तर है ॥ ३० ॥

ऋक्संहिता त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ॥ ३१ ॥
साम्नां वा सरहस्यां च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
संहिता नयते सूर्यं पदं च शशिनः पदम् ॥ ३२ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इनका सार्थक तीन बार पाठ करने से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है। संहिता पाठ से सूर्यलोक की प्राप्ति तथा "पद" पाठ से चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है ॥ ३१।३२ ॥

क्रमश्च नयते सूक्ष्मं यत्तत्पदमनामयम् ॥
कालिन्दी संहिता ज्ञेया पदमुक्ता सरस्वती ॥ ३३ ॥
क्रमेणाऽवर्त्तिता गङ्गा शम्भोर्वाणी तु नान्यथा ॥
यथामहाहृदं प्राप्य क्षिप्तो लोष्ठो विनश्यति ॥ ३४ ॥
एवं दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥

क्रमपाठ से अविनाशी ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। संहिता पाठ से यमुना स्नान का फल होता है। पद पाठ से सरस्वती स्नान का पुण्य होता है।३३। क्रमपाठ से गङ्गा स्नान का फल मिलता है यह शंकर जी

का कथन है इसमें सन्देह नहीं है। जिस प्रकार बड़े तालाब में मिट्टी का ढेला फेंक देने पर वह उसमें विनष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥ उसी प्रकार वेदों की तीन आवृत्ति पाठ करने से सभी पाप विनष्ट हो जाते हैं।

आम्रपालाशबिल्वानामपामार्गशिरीषयोः ॥ ३५ ॥
वाग्यतः प्रातरुत्थाय भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥
खदिरञ्च कदम्बञ्च करवीर—करञ्जकौ ॥ ३५ ॥
एते कण्टकिनः पुण्याः क्षीरिणश्च यशस्विनः ॥
तेनास्य करणे सौक्ष्म्यं माधुर्यञ्चैव जायते ॥ ३७ ॥
त्रिफलां लवणाक्तां वै भक्षयेच्छिष्यकः सदा ॥
क्षीणमेधा जनन्येषा स्वरवर्णकरी तथा ॥ ३८ ॥

प्रातःकाल उठकर शौचादि से निवृत्त होकर, आम, परास, बिल्व (श्रीफल), चिचिड़ी, शिराष इन वृक्षों में किसी को दन्तधावन लेकर मौन होकर मुख धोवे। खैर, कदम्ब, कचनार, (या कनैल) करञ्ज के वृक्ष भी दातून के लिए उपयुक्त हैं। काँटेवाले वृक्ष में जो इनमें गिनाए गए हैं वे दातून के लिए श्रेष्ठ हैं तथा दूधवाले सभी वृक्ष दन्तधावन के लिए उत्तम माने गए हैं। इनसे मुख धोने से कण्ठादि स्थान को सूक्ष्मता एवं वाणी में मधुरता आती है। त्रिफला (आँवला, हर्रा, बहेरा) चूर्ण नमक के साथ छात्र को सर्वदा सेवन करना चाहिए। इससे धारणाशक्ति की वृद्धि तथा स्वर में माधुर्य आता है।। ३५।३६।३७।३८ ॥

हस्त हीनं तु योऽधीते मन्त्रं वेदविदो विदुः ॥
न साधयन्त्याजुषाणि भुक्तमव्यञ्जनं यथा ॥ ३९ ॥

वेदज्ञ का कथन है कि जो व्यक्ति मन्त्रों का अध्ययन हस्तस्वर हीन

करता है उसके सभी वैदिक कर्मानुष्ठान लक्षण रहित व्यञ्जन के समान व्यर्थ होते हैं ॥ ३९ ॥

ऋचा यजूंषि सामानि हस्तहीनानि यः पठेत् ॥
अनृचो ब्राह्मणस्तावद् यावत्स्वारं न विन्दति ॥ ४० ॥

जो ब्राह्मण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अध्ययन हस्तस्वर के बिना करता है वह अवैदिक ब्राह्मण तब तक कहा जाता है जब कि हस्तस्वर का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता ॥ ४० ॥

हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम् ॥
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ॥ ४१ ॥

हस्तस्वर, कण्ठस्वर तथा सम्यक् उच्चारण से रहित जो वेदों का अध्ययन करता है वह ऋग्यजुः सामवेदों के द्वारा दग्ध होकर नरकगामी होता है ॥ ४१ ॥

ज्ञातव्यश्च तथैवार्थो वेदानां कर्मसिद्धये ॥
पठन्मात्रापपाठात्तु पङ्के गौरिव सीदति ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार हस्त संचालन के लिए स्वरों एवं वर्णों का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार कर्मानुष्ठान सिद्धि के लिए अर्थज्ञान भी परमावश्यक है अन्यथा अर्थज्ञान रहित होने के कारण मात्राओं का समुचित ज्ञान न होने से कीचड़ में फँसी हुई गौ के समान अध्येता नष्ट हो जाता है ॥४२ ॥

आगमं कुरु यत्नेन कारणं हि तदात्मकम् ॥
आस्येन च शयं कुर्यात् पठन् नान्यमतिर्भवेत् ॥ ४३ ॥

यत्नपूर्वक अर्थज्ञान की चेष्टा करनी चाहिए। वही कर्मानुष्ठान या

अध्ययन की पूर्णता का कारण है। अध्येता को चाहिए कि मुखस्थ उच्चरित वर्णों के साथ साथ सावधान चित्त होकर हस्तसचालन करे ॥ ४३ ॥

न चाऽस्य मुष्टिबन्धी स्यान् न चात्युत्तममाचरेत् ॥
चुलुनौका स्फुटो दण्डो स्वस्तिको मुष्टिकाकृतिः । ४४ ॥
एते वै हस्तदोषाः स्युः परशुश्चैव सप्तमः ॥

अध्ययन के समय हाथ की मुट्ठी न बाँधे और अंगुलियों को स्फुटित भी न रखे। हाथ को (१) चुल्लू के समान रखना, (२) नौका के समान रखना, (३) अंगुलियों को फैलाकर रखना, (४) दण्डे के समान करना, (५) स्वस्तिकके आकार का बनना, (६) मुट्ठी बांधकर स्वरचालन करना, (७) परशु के समान रखना ये सात हस्त दोष हैं ॥ ४४ ॥

स्वरवर्णान् प्रयुञ्जानो हस्तेनाधीत मा चरन् ॥ ४५ ॥
ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ॥

स्वर वर्णों का ठीक ठीक उच्चारण तथा तदनुसार हस्तचालन पूर्वक अध्ययन करने वाला ऋग्यजुःसाम वेदों द्वारा पवित्र होकर ब्रह्मलोक प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

न कुर्वीत पदं दीर्घं न चात्यन्तविलम्बितम् ॥ ४६ ॥
पदस्य ग्रहमोक्षौ च यथाशीघ्रगतिर्हयः ॥
यथा वाणी तथा पाणी रिक्तं तु परिवर्जयेत ॥ ४७ ॥
यत्र यत्र स्थिता वाणी पाणिस्तत्रैव तिष्ठति ॥
तथा धनुष्याऽविततं शरे क्षिप्ते पुनर्गुणः ॥ ४८ ॥
स्वस्थानं प्रतिपद्येत तद्वद्धस्तगतः स्वरः ॥

पदों के उच्चारण काल में दीर्घ एवं अत्यन्त देर न करे। जिस प्रकार शीघ्रगामी अश्व अपने पैरों को समान गति से धरता हुआ चलता है उसी प्रकार वर्णों का उच्चारण करे। रिक्त स्थान को छोड़कर उच्चारण के साथ-साथ हाथ का भी चालन करे। उदात्तादि स्वरों के अनुसार ही हस्त प्रदर्शन की स्थिति रहनी चाहिए। जिस प्रकार बाण चलाने के लिए खिंची हुई धनुष की डोरी बाण छूटने के बाद अपने स्थान पर आ जाती है उसी प्रकार उदात्तादि स्वरों के प्रदर्शन के पश्चात् हाथ अपने स्थान पर रहता है ॥ ४६-४७-४८ ॥

अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम् ॥
शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद् वृत्तिं बिलम्बिताम् ॥४९ ॥
ऐन्द्री तु मध्यमा वृत्तिः प्राजापत्या विलम्बिता ॥
अग्निमारुतयोर्वृत्तिः सर्वशास्त्रेषु निन्दिता ॥५० ॥

अभ्यास के लिए द्रुतवृत्ति, कर्मानुष्ठान में मध्यमावृत्ति, तथा शिष्यों को पढाते समय बिलम्बित वृत्ति का आश्रयण करना चाहिए। मध्यमा वृत्ति के इन्द्र देवता हैं, विलम्बिता वृत्तिके देवता प्रजापति हैं। द्रुतावृत्ति के देवता अग्निमारुत हैं। द्रुता वृत्ति सभी शास्त्रों में निन्दित है।४९-५०।

उत्तानं सोन्नतं किञ्चित् सुव्यक्तांगुलि रञ्जितम् ॥
स्वरविच्च करं कुर्यात् प्रादेशोद्देशगामिनम् ॥५१ ॥

स्वर को जानने वाला विद्वान् हाथ को ऊँचा उठा हुआ संधा अंगुलियों से फणाकृति, प्रादेशमात्र उपर नीचे जाने वाला बनावे ॥५१।

अंगुष्ठस्योत्तरं पर्व त[illegible]युपरि यद्भवेत् ॥
प्रादेशस्य तु यो देशस्तन्मात्रं चालयेत्करम् ॥५२ ॥

अंगूठे के उपरिभाग से तर्जनी के अग्रभाग तक फैलाए हुए दश अंगुल के अन्तराल का नाम प्रादेश है। स्वरों के प्रदर्शनार्थ प्रादेश मात्र ही हाथ चलाना चाहिए ॥ ५२ ॥

मनुष्यतीर्थाच्च कृत्वा पितृतीर्थोदकं व्रजेत् ॥
नामितं करपृष्ठन्तु सुव्यक्तांगुलि मोक्षणम् ॥ ५३ ॥

हाथ ऐसा रखे जिससे मनुष्यतीर्थ से पितृतीर्थ तक जल पहुँच जावे। कर पृष्ठ को नीचे रखे और सभी अगुंलियों का सीधा करे ॥ ५३ ॥

स्वरिते त्र्यगुंलं विद्यात् निपाते तु षडङ्गुलम् ॥
उत्थाने तु नवाङ्गुल्यमेतत्स्वारस्यलक्षणम् ॥५४ ॥

स्वरित के लिए नासिका के अग्रभाग से तीन अंगुलि नीचे हाथ करना चाहिए। अनुदात्त के लिए छह अंगुल नीचे तथा उदात्त के लिये हाथ को नासिकाग्र से नव अंगुल ऊपर ले जाना चाहिए, स्वरों के लिए हस्त प्रदर्शन का यही क्रम है ॥ ५४ ॥

उदात्तं तु भ्रुवः प्रान्ते प्रचयं नासिकाग्रतः ॥
हृत्प्रदेशेऽनुदात्तं तु तिर्यग्जात्यादिरीरितः ॥५५ ॥
षडङ्गुलन्तु जात्यस्य हस्तस्यानुपथस्य च ॥
तच्चतुर्भागमात्रं तु हस्तं तेनैव वर्त्तयेत् ॥ ५६ ॥
उदात्तानुदात्ते तु वाभाया भ्रुव आरभेत ॥ ५७ ॥

हस्त संचालन की दूसरी विधि का वर्णन है—उदात्त के लिए हाथ को भौहों तक, स्वरित के लिए नासाग्रभाग तक तथा अनुदात्त के लिए हृदय प्रदेश तक ले जाना चाहिए। जात्यादि स्वरित भेदों के लिए हाथ को पूर्ण न्यूब्ज (उल्टा) एवं अर्ध न्यूब्ज रखना चाहिए। स्वरित के

आठ भेदों में जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट ये चार उदात्तपरक न हों तो हाथ को अर्ध न्युब्ज करना चाहिए। यदि ये चार उदात्त परक हों तो हाथ को पूर्ण न्युब्ज करना चाहिए। पूर्ण न्युब्ज हाथ का चालन छह अंगुल तथा अर्ध न्युब्ज हाथ का चालन ड़ेढ (१॥) अंगुल होना चाहिए। उदात्त के बाद यदि अनुदात्त स्वर हो तो उदात्त के लिए हस्त चालन बाएँ से होता है ॥ ५५-५६-५७ ॥

उदात्तस्वरितोदात्ताः क्रमाद्दक्षिणतो न्यसेत् ।
उच्चादुच्चतरं न्नास्ति नीचान्नीचतरं तथा ॥ ५८ ॥
अक्षरतुल्ययोगाच्च नीचे नीचगतानि च ।
स्वरितादनुदात्ताये प्रचयाँस्तान्प्रचक्षत ॥ ५९ ॥
एकस्वरानपि च तानाहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः ।
प्रचयो यत्र दृश्येत तत्र हन्यात्स्वरं बुधः । ६० ।

अनुदात्त से उदात्त तथा स्वरित पर में हो अनुदात्त के लिए हाथ दाहिने जाता है। उदात्त से उच्चतर स्वर तथा अनुदात्त से नीचतर स्वर कोई नहीं है। अनुदात्त के बाद अनुदात्त स्वर हो तो हाथ बीच में रहता है। स्वरित के बाद आने वाला अनुदात्त प्रचय कहा जाता है और उसके लिए हाथ बीच में ही स्वरित के समान रहता है। आचार्य गण प्रचयों को "एकश्रुति" नाम से भी व्यवहार करते हैं। स्वरित के बाद प्रचय हों तो स्वरित पर शीघ्र ही हाथ चलावे और मुख से भी शीघ्र उच्चारण करे ॥५७-५८-६० ॥

स्वरितः केवलो यत्र मृदुं तत्र नितातयेत् ।
मुष्टयाकृतिर्मकारे स्यान्नकारे तु नखग्रह ॥ ६१ ॥

जिस स्वरित के बाद प्रचय न हो तो उसके लिए हस्त चालन एवं उच्चारण "मृदु" करना चाहिए। अवसान में व्यञ्जन मकार के उच्चारण के समय मुट्ठी बांध लेनी चाहिए तथा व्यञ्जन नकार के लिए तर्जनी के नख के अंगूठे के अग्रभाग से स्पर्श करना चाहिए ॥ ६१ ॥

ककारान्ते टकारान्ते ङणोर्तर्जनिकां नमेत् ।
पञ्चाङ्गुल्यम्पकारे च तकारे कुण्डलाकृतिः । ६२ ॥

अवसान में क् ट् ङ् ण् हों तो तर्जनी को झुकाना चाहिए। अवसान में प् हो तो पांचों अंगुलियों को सटा देना चाहिए अवसान में त् हो तो तर्जनी और अगूठे को मिलाकर कुण्डल की आकृति बनानी चाहिए। ङ् ण् का उदाहरण पदपाठ में मिलता है ॥ ६२ ॥

ऊर्ध्वक्षेपाच्च योष्मा स्यादधः क्षपाच्च या भवेत्
एकैकामुत्सृजेद्धीरः स्वरिते तू भयं क्षिपेत् ॥ ६३ ॥

उदात्त के बाद विसर्ग के उच्चारण के समय तर्जनी अंगुलि निकाले अनुदात्त के बाद विसर्ग के लिए कनिष्ठा अंगुलि निकाले। स्वरित के बाद विसर्ग के उच्चारण काल में तर्जनी एवं कनिष्ठा दोनो को बाहर करे।६३

अङ्गुष्ठा कुञ्चनं लघावनुस्वारे तपा ॳ रसम् ।
दीर्घे रङ्गे च तर्जन्याः प्रसारः परिकीर्तितः ॥ ६४ ॥

अनुस्वार के बाद शल् प्रत्याहार हो तो अनुस्वार का स्वरूप "ꣳ, ꣳ" तथा उच्चारण गूंम् होता है। ह्रस्वमात्रा के बाद के अनुस्वार का उच्चारण दीर्घ गूंम् ॳ होता है। दीर्घ के बाद अनुस्वार का उच्चारण ह्रस्व ꣳ गूंम् होता है। लघु ॳ गूंम् के उच्चारण के समय अंगूठा एवं तर्जनी दोनों को मोड़कर अंगूठी के समान बना लेना चाहिये। दीर्घ ॳ के उच्चारण में तर्जनी को निकालना चाहिए। रङ्ग के उच्चारण (अर्धानुस्वार) में भी तर्जनी का प्रसारण होता है ॥ ६४ ॥

तर्जन्यङ्गुष्ठयोः स्पर्शे उदात्तम्प्रतिपद्यते ।
नीचस्तु मध्यमं कुर्याच्छेसं नीचतरं क्रमात् ॥ ६५ ॥

सामवेद में अंगुलियों पर ही गिनती पूर्वक स्वरों का प्रदर्शन किया जाता है। षड्जादि सप्तस्वर सामवेद में 'क्रुष्टादि' सात भेदों में व्यवस्थित हैं। षड्जादि सप्तस्वरों का अन्तर्भाव उदात्तादि तीन स्वरों के अन्तर्गत हो जाता है। यह पहले ही प्रतिपादन (श्लोक सं० ६) कर चुके हैं। यजुर्वेद में भी कभी कभी अवसर आ जाने पर हस्तचालन की व्यवस्था किस प्रकार हो इस सम्बन्ध में आचार्य का कथन है कि— उदात्त स्वर में तर्जनी और अंगूठे का स्पर्श तथा अनुदात्त स्वर में अंगूठा और मध्यमा का स्पर्श तथा स्वरित में अंगूठा और कनिष्ठिका का स्पर्श करना चाहिए ॥ ६५ ॥

स्वरितं यद्भवेत्किञ्चित् सवकारोष्मकं ततः ।
ह्रस्वं वा यदिवा दीर्घं निक्षेप उभयोरपि ॥ ६६ ॥

विसर्ग के सहित वकार स्वरित हो, वह दीर्घ हो या ह्रस्व हो, उसके उच्चारण के समय हाथ की तर्जनी एवं कनिष्ठिका बाहर निकलती हैं फलतः मध्यमा और अनामिका स्वतः मुड़ जाती हैं। जैसे—देवो वंः सविता"। अतिविश्वा ःपरावतः ॥ ६६॥

स्वरिते यत्र निक्षिप्ते संयोगो वापि दृश्यते।
द्विमात्रिके क्षिपेदेकां मात्रिके तूभयं क्षिपेत्॥ ६७॥

विसर्गयुक्त वकार रहित दीर्घ स्वरित के बाद संयोग हो अथवा न हो तो उस स्वरित के उच्चारण के समय केवल कनिष्ठा ही निकलती है। यदि वह स्वरित ह्रस्व हो तो उसके उच्चारण के समय तर्जनी और कनिष्ठा दोनों निकलती हैं। जैसे—क्वसो ःपवित्रम्" (शु० म० सं० १।२) यहाँ पर केवल तर्जनी बाहर निकाली जाती है। 'तन्मे मनः,' ३४।१ यहाँ पर तर्जनी और कनिष्ठा दोनों निकाली जाती हैं॥ ६७॥

जात्ये च स्वरिते चैव वकारो यत्र दृश्यते।
कर्तव्यस्तूभयोः क्षेपो व्वायव्या इति दर्शनम्॥ ६८॥

जात्य स्वरित वकार युक्त हो तो उसके बाद के विसर्ग के लिए तर्जनी और कनिष्ठिका दोनों अंगुलियाँ बाहर निकलती हैं। उदाहरण के लिए "व्वायव्याः" (शु० म० २४।१६) यह निदर्शन है। यकार युक्त जात्य स्वरित के बाद वाले विसर्ग के लिए दो अंगुलियाँ नहीं निकलेंगी जैसे-सदस्यै : (७।४५) ॥ ६८॥

शृङ्गवद्वालवत्सस्य कुमारीकुचयुग्मवत्।
उभक्षेपः स्वरो यत्र सविसर्ग उदाहृतः॥ ६९॥

बछड़े के दोनों सींगों के समान अथवा अप्राप्त वयस्का कुमारी के दोनों स्तनों के समान दो अंगुलियाँ निकालनी चाहिए इसे ही "उभक्षेप" कहा जाता है। फलतः जहाँ भी उभक्षेप का निर्देश होगा वहां पर तर्जनी और कनिष्ठका बाहर निकलेगी ॥ ६९ ॥

त्रिसर्गान्तः स्वरो ह्रस्वः स्वरितो यत्र दृश्यते।
दीर्घस्तु सवकारश्च तत्रोभक्षेप उच्यते ॥ ७० ॥

विसर्ग युक्त ह्रस्व स्वरित जहाँ होगा वहां उभक्षेप होगा। वकार सहित दीर्घ स्वरित के बाद विसर्ग के उच्चारण में भी उभक्षेप होगा ॥ ७० ॥

त्रिविधा तु भवेदुष्मा प्रचिता बलका तरा।
स्वरिते प्रचितां विघान् निपाते बलकां विदुः ॥ ७१ ॥
उत्थाने तु तथा तारा मेताभिस्त्रिभिरुष्मभिः।
मात्रा मादौ त्रिदित्वा तु ततः क्षेपः प्रयोजयेत् ॥ ७२ ॥

उष्मा (विसर्गः) तीन प्रकार की होती है, प्रचिता, बलका और तरा। स्वरित के साथ उच्चार्यमाण उष्मा 'प्रचिता' तथा अनुदात्त के साथ उच्चार्यमाण उष्मा "बलका" एवं उदात्त के साथ उच्चार्यमाण उष्मा 'तरा' कही जाती है। इन तीन प्रकार के विसर्गों के पहले ह्रस्व, दीर्घ, वकार सहितत्व आदिका विचार कर क्षेप (हस्त-चालन) का निर्णय करना चाहिए ॥ ७१।७२ ॥

अक्षरं भजते काचित् काचिद् द्वित्वे प्रतिष्ठिता।
समान जातिका काचित् काचिदूष्म प्रदायिनी ॥ ७३ ॥

विसर्ग (ऊष्मा) कहीं तो अक्षरों के समान हो जाता है। कहीं पर द्वित्व को प्राप्त होता है अर्थात् जिह्वामूलादि के रूप में उच्चारण काल में दूनी मात्रा का समय ले लेता है। कहीं पर समान जाति का हो जाता है, अर्थात् विवृत्तियों के साथ एक मात्रिक द्विमात्रिक के समान उच्चरित होता है कहीं-कहीं अपने ही स्वरूप में रह जाता है ॥ ७३ ॥

यथा बालस्य सर्पस्य निःश्वासो लघुचेतसः ।

एवमूष्मा प्रयोक्तव्या हकारपरिवर्जिता ॥७४॥

जिस प्रकार छोटा सांप श्वास लेता है उसी प्रकार विसर्ग का उच्चारण करना चाहिए। विसर्ग को हकार नहीं मानना चाहिए अपितु उसी के समान उसकी श्रुति होनी चाहिए ॥ ७४ ॥

विवृत्तिप्रत्ययामूष्मां प्रवदन्ति मनीषिणः ।

तामेव प्रतिषेधन्ति आ-ई-ऊ-ए निदर्शनम् ॥ ७५ ॥

आचार्यगण विसर्ग का उच्चारण मध्य में अन्तराल रखकर ही करते हैं। समान जाति का निषेध करते हैं। अर्थात् हकार के समान नहीं मानते। आ ई ऊ और ए इत्यादि स्वरों के बाद में आने वाले विसर्ग का उच्चारण ह श्रुति के अनुकूल होता है ॥ ७५ ॥

[यहाँ से स्वरसंहिता विधि प्रारम्भ होती है]

अष्टौ स्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषामेव तु लक्षणम् ।

जात्योऽभिनिहितः क्षैप्रः प्रश्लिष्टश्च तथापरः ॥ ७६ ॥

तैरोव्यञ्जन संज्ञश्च तथा तैरोविरामकः ।

पादवृत्तो भवेत्तद्वत् ताथा भाव्य इति स्वराः ॥ ७७ ॥

याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि मैं स्वरित के आठ भेदों का वर्णन करूंगा। जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम पादवृत्त, ताथाभाव्य, ये आठ भेद स्वरित के हैं ॥ ७६-७७ ॥

एकपदे नीच पूर्वः सयवो जात्य इष्यते।

अपूर्वोऽपि परस्तद्वत् धान्यं सुप्वा स्वरित्यपि ॥ ७८ ॥

समान पद में अनुदात्त पूर्वक यकार अथवा वकार स्वरित हो तो उसे जात्य स्वरित कहते हैं। पूर्व में कोई भी स्वर न हो वहाँ भी स्वरित जात्य स्वरित कहा जाता है। अनुदात्त पूर्वक यकार वकार का उदाहरण क्रमशः "धान्यम्" सुप्वा है तथा स्वररहित पूर्व वकार का उदाहरण "स्वः" है ॥ ७८ ॥

ए ओ आभ्यामुदात्ताभ्या मकारो निहतश्च यः।

स च यत्र प्रलुप्येत तं चाभिनिहितं विदुः ॥ ७९ ॥

उदात्त एकार तथा ओकार के बाद आने वाला अनुदात्त अकार लुप्त हो जाता है अर्थात् संधि भाव से एकार ओकार में मिल जाता है उसे अभिनिहित स्वरित कहते हैं जैसे—ते अप्सरसाम का तेऽप्सरसाम्। वेदः असि = वेदोऽसि ये उदाहरण हैं ॥ ७९ ॥

इ उ वर्णौ यदोदात्ता वापद्येते यवौ क्वचित्।

अनुदात्ते परे नित्यं विद्यात् क्षैप्रस्य लक्षणम् ॥ ८० ॥

जहां पर उदात्त इकार और उकार से अनुदात्त स्वर परे रहते इकार को यकार उकार को वकार हो जाता है उसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं। यथा त्रि + अम्बकम् = त्र्यम्बकम्। द्रु + अन्नः। द्रुवन्नः इत्यादि उदाहरण है ॥ ८० ॥

यकारो दृश्यते यत्र इकारेणैव संयुतः ।
उदात्त श्चानुदात्तेन प्रश्लिष्टो भवति स्वरः ॥ ८१ ॥

जहां पर उदात्त इकार, अनुदात्त इकार से संयुक्त होकर स्वरित हो जाता है उसे प्रश्लिष्ट स्वरित कहते हैं जैसे—अभि + इन्धताम् = अभीन्धंताम् ॥ ८१ ॥

उदात्तपूर्वः स्वरितो व्यञ्जनेन युतो यदि ।
एषः सर्वो बहुस्वार स्तैरोव्यञ्जन उच्यते ॥ ८२ ॥

एक ही पद में बहुत से उदात्तपूर्वक व्यञ्जन सहित स्वरित को तैरो व्यञ्जन स्वरित कहा जाता है। जैसे—इडे । रन्ते । हव्ये । काम्ये = इडे रन्ते हव्ये काम्ये । इत्यादि (शु० प० सं० ८।४३) ॥ ८२ ॥

अवग्रहात्परो यस्तु स्वरितः स्यादनन्तरः ।
तैरोविरामं तं विद्यादुदात्तो यद्यवग्रहः ॥ ८३ ॥

कृदन्त तद्धित समास एकशेष सनाद्यन्त धातु इन पाँच वृत्तियों को दिखाने के लिए जो विच्छेद किया जाता है उसे अवग्रह कहते हैं। उदात्त अवग्रह से अव्यवहित स्वरित पर में हो तो उसे तैरोविराम स्वरित कहते हैं। जैसे—गोपतावितिगोऽपतौ (शु० प० सं० १।१) यहाँ पर द्वितीय गो के बाद का अवग्रह उदात्त है और उसके बाद आने वाला पतौ में पकार के बाद अकार है तैरो विराम सञ्ज्ञक स्वरित है ॥ ८३ ॥

स्वरे च स्वरिते चैव विवृत्तिर्यत्र दृश्यते ।
पादवृत्तोभवेत्स्वारः "श्वित्रऽआदित्य" दर्शनम् ॥ ८४ ॥

उदात्त के बाद स्वरित हो और बीच में सन्ध्यभाव हो तो वहां पर पाद वृत्त नाम का स्वरित होता है। जैसे—श्वित्रऽआदित्यः। (शु० य० सं० २४।३९) ॥ ८४ ॥

उदात्ताक्षरयोर्मध्ये भवेन्नीचस्त्ववग्रहः।
ताथाभाव्यो भवे त्स्वारस् "तनू-नप्त्रे" निदर्शनम् ॥८५॥

दो उदात्ताक्षरों के बीच में अवग्रह के रूप में आए हुए स्वरित को "ताथाभाव्य" स्वरित कहा जता है। जेसे–तनूऽनप्त्ते (शु. प. सं. ५।५) ॥ ८५ ॥

माध्यन्दिन विरोधीस्यात् ताथाभाव्यस्तु यः स्वरः।
स्वरौ चैवात्र दृश्येते भिन्नोदात्तानुदात्तकौ ॥ ८६ ॥

ताथाभाव्य स्वरित के विषय में आचार्य का मत है कि माध्यन्दिन शाखा में इसका लक्षण ठीक ठोक नहीं घटता है। क्योंकि उदात्त और अनुदात्त दो भिन्न २ स्वर उदाहरण स्थल पर दिखाई देते हैं। स्वरित नहीं दिखाई देता। अतः ऐसे स्थलों पर 'कम्प' ही होता है ऐसा मानना चाहिए॥ ८६ ॥

उदात्तान्निहितः स्वारः स्वरितात्प्रचयोभवेत्।
उदात्तात् स्वरितात्पूर्वो नान्यमापद्यते स्वरम् ॥ ८७ ॥

उदात्त से परे (व्यञ्जन का व्यवधान हो तो भी) अनुदात्त को स्वरित होता है। स्वरित से परे अनुदात्त को प्रचय (चिह्न का लोप) होता है। उदात्त और स्वरित के पूर्व का अनुदात्त अनुदात्त ही रहता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है॥ ८७ ॥

पदकाले यः स्वरितः संहितायां तथैव च ।

स्वरितश्चेद् भवेत्पश्चात् स एव निहितः स्वरः ॥ ८८ ॥

पदपाठ में स्वरित संहितापाठ में भी स्वरित ही रहता है। यदि स्वरित के बाद स्वरित या उदात्त आ जाता है तब वह स्वरित अनुदात्त हो जाता है ॥ ८८ ॥

उदात्तान्निहितः स्वार्यः स्वारोदात्तौ न तत्परौ ।

स्वरो यश्च तथा भूतो ज्ञेयः स प्रचयः सदा ॥ ८९ ॥

उदात्त के बाद अनुदात्त को स्वरित होता है यदि उसके बाद उदात्त और स्वरित नहीं हों। स्वरित के बाद अनुदात्त को प्रचय होता है यदि बाद में उदात्त या स्वरित नहीं होते हैं ॥ ८९ ॥

उच्चानुदात्तयो र्योगे स्वरितः स्वर उच्यते ।

ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः सन्धिरेष मिथोऽद्भुतः ॥ ९० ॥

उदात्त और अनुदात्त के समाहार में स्वरित स्वर होता है। उदात्ता-नुदात्त के ऐक्य भाव (भेद राहित्य) का प्रचय कहते हैं। इसे "एकश्रुति स्वर" भी कहते हैं। यह ऐक्य रूपी संधि दोनों की अद्भुत होती है ।९०॥

मात्रिकं वा द्विमात्रं वा स्वरितं यदिहाक्षरम् ।

तस्यादितोऽर्द्धमात्रा वै शेषं च परतो भवेत् ॥ ९१ ॥

संहिता पाठ में एकमात्रिक अथवा द्विमात्रिक स्वरित हो, उसमें पूर्व की आधी मात्रा उदात्त एवं शेष मात्रा अनुदात्त मानी जाती है ॥ ९१ ॥

उच्चस्थानगते हस्ते स्वरितं नोपपद्यते ।

अधस्तात्तु यदा गच्छेत् स्वरितं न तदा भवेत् ॥ ९२ ॥

उच्चस्थान (उपर) पर हाथ जाने के समय स्वरित नहीं होता और नीचे हाथ जाने पर भी स्वरित नहीं होता कारण कि उदात्त प्रदर्शन काल में अनुदात्त के प्रदर्शन का तथा अनुदात्त प्रदर्शन काल में उदात्त के प्रदर्शन का अभाव रहता है। अतः दोनों का ऐक्य मध्य में हाथ रखने में ही होता है।। ९२ ।।

। पूर्वार्धं समाप्त ।

यहां से वर्णों का विवेचन है—

स्वराः। स्पर्शान्तस्थोष्माणाः। कण्ठ्य-जिह्वामूलीयतालव्य मूर्धन्य-दन्त्योष्ठ्ययमाऽनुस्वार विसर्जनीयोपध्मानीयनासिक्याऽनुनासिक्यरङ्गाः। नामाख्यातोपसर्ग-निपाताश्च किं वर्णा दैवतलिङ्गाः ।।

तत्रस्वराः शुक्ला नाना दैवत्याः स्पर्शाः कृष्णाः। अन्तस्थाः कपिलाः उष्माणोऽरुणाः। यमानीलाः।। अनुस्वारः पीतः। विसर्जनीयः श्वेतः। जिह्वामूलीयो रक्तः। उपध्मानीयः पीतः। नासिक्यो हरितः। अतिनीला अनुनासिक्याः। शबलोरङ्गः।।

कण्ठ्या आग्नेया अकारादयः। जिह्वामूलीया नैर्ऋत्याः। ककारादयः तालव्याः सौम्याश्चकारादयः। मूर्धन्या वायव्याष्टकारादयः। दन्त्याः रौद्रास्तकारादयः। ओष्ठ्या आश्विनाः पकारादयः। शेषा वैश्वदेव यमाः।।

अक्षराणां च के पुरुषाः का स्त्रियः कानि नपुंसका नीतिब्रूमः ।।

अकारादि स्वर, क से लेकर म तक स्पर्श, य व र ल अन्तस्थ, श, ष, स, ह, उष्मा संज्ञक, कण्ठ से उच्चरित-जिह्वामूलीय, तालु से उच्चरित, मूर्धा से उच्चरित, दन्त से उच्चरित, ओठ से उच्चरित, यम, अनुस्वार, विसर्ग, उपध्मानीय, नासिका से उच्चरित, रङ्गसंज्ञक, नाम आख्यात, उपसर्ग निपात संज्ञक वर्णों के कौन से वर्ण (रंग) एवं देवता हैं ?

स्वरों का शुक्ल वर्ण है तथा कई देवता हैं। स्पर्शों का रंग काला है। अन्तस्थ कपिल रंग के हैं। उष्मा लाल रंग के हैं। यम नील वर्ण के हैं। अनुस्वार पीला है। विसर्ग श्वेत है। जिह्वामूलीय लाल है। उपध्मानीय पीत है। नासिक्य हरा रंग का है। अनुनासिक का रंग अति-नील है। रंग संज्ञक वर्ण शबल (चितकबरे) रंग के हैं।

कण्ठ से उच्चरित अकारादि वर्णों के अग्नि देवता हैं। जिह्वामूलीय एवं क वर्ग वर्णों के निऋृति देवता हैं। तालु से उच्चरित च वर्ग का सोम देवता है। मूर्धा से उत्पन्न ट वर्ग का वायु देवता है। दन्त्य त वर्ग का रुद्र देवता है। ओष्ठ्य प वर्ग का अश्विनीकुमार देवता है। शेष यमादि वर्णों के विश्वेदेव देवता हैं।

अक्षरों में कौन पुलिङ्ग कौन स्त्रीलिङ्ग कौन नपुंसक लिङ्ग हैं इसे कहता हूँ।

स्वरास्तु ब्राह्मणा ज्ञेया वर्गाणां प्रथमाश्चये।
द्वितीयाश्च तृतीयाश्च चतुर्थाश्चापिभूमिपाः ॥ १ ॥
वर्गाणां पञ्चमा वैश्याः अन्तस्थाश्च तथैव च।
उष्माणश्च हकारश्च शूद्रा एव प्रकीर्त्तिताः ॥ २ ॥

स्वर एवं वर्गों के प्रथम अक्षर ब्राह्मण जाति के हैं। वर्गों के द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ अक्षर क्षत्रिय जाति के हैं। वर्गों के पञ्चम अक्षर तथा य व र ल वैश्य जाति के हैं। श ष स ह ये शूद्र जाति के हैं ॥१।२॥

शुक्ल वर्णानि नामानि आख्याता रोहिता स्मृताः।
कपिला स्तूपसर्गाश्च कृष्णाश्चैव निपातकाः ॥३॥

नाम (प्रातिपदिक) शुक्ल वर्ण के, आख्यात रक्त वर्ण के उपसर्ग भूरे रंग के, तथा निपात कृष्ण वर्ण के होते हैं॥ ३ ॥

भारद्वाजकमाख्यातम् नाम वायव्य मिष्यते ।
वाशिष्ठाः उपसर्गाश्च निपाताः काश्यपाः स्मृताः ॥ ४ ॥

आख्यातों का भारद्वाज गोत्र, नामों का भार्गव गोत्र, उपसर्गों का वशिष्ठ गोत्र तथा निपातों का कश्यप गोत्र होता है ॥ ४ ॥

सर्वन्तु सौम्य माख्यातं नाम वायव्य मिष्यते ।
आग्नेयस्तूपसर्गः स्यान्निपातो वारुणः स्मृतः ॥ ५ ॥

आख्यातों के देवता सोम, नामों के देवता वायु, उपसर्गों के देवता अग्नि तथा निपातों के देवता वरुण हैं ॥ ५ ॥

आदित्यो मुनिभिः प्रोक्तः सर्वाक्षर गणस्य च ॥

सम्पूर्ण अक्षरों एवं पदों के देवता सूर्य हैं यह सभी ऋषियों का मत है ।

स्वरा विसर्जनीयाश्च यमाः पुंलिङ्गकास्मृताः ॥ ६ ॥
प्रथमाश्च तथाऽन्तस्थाः स्त्रीलिङ्गा परिकीर्तिताः ।
शेषाक्षराणि षण्ढानि प्राहुर्लिङ्गविवेचकाः ॥ ७ ॥

स्वर, विसर्ग और यम ये पुलिङ्ग हैं। वर्गों के प्रथमाक्षर तथा अन्तस्थ स्त्रीलिङ्ग हैं। वर्गों के द्वितीय, तृतीय तथा पञ्चम अक्षर एवं उष्मा अनुस्वार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य रङ्ग ये सभी नपुंसक लिङ्ग हैं। ऐसा लिङ्ग के विचारक विद्वानों का मत है ॥ ६।७ ॥

संधिश्चतुर्विधो भवति लोपाऽगमविकाराः प्रकृतिभावश्चेति । तत्र लोपोयथा–अयक्ष्माः + मा = अयक्ष्मामा (शु. म. सं. १।१) शततेजाः + व्वायुः = शततेजाव्वायुः । (शु० य० वे० सं० १।२४) तिग्मतेजाः + द्विषतः = तिग्मतेजाद्विषतः (शु० य० सं० १।२४) इति । आगमो यथा—

प्रत्यङ् + सोमः = प्रत्यङ्क्सोमः। प्राङ् + सोमः = प्राङ्क्सोमः (शु० य० सं० १९।३) अस्मान् + सीते = अस्मान्त्सीते (शु० य० सं० १८।६१) त्रीन् + समुद्रान् = त्रीन्त्समुद्रान् (शु० य० सं १३।३१) इति विकारो यथा—आ + इदम् = एदम् (शु० य० वे० सं० ४।१) आ + इष्टयः = एष्टयः (शु० य० सं० १८।८१) प्र + ईषितः = प्रेषितः (शु० य० वे० सं० २१।५१) प्रकृतिभावो यथा—आशुः + शिशानो = आशुः शिशानो (शु० य० वे० सं० १७।३३) युञ्जानः + प्रथमम् = युञ्जानः प्रथमम् (शु० य० वे० सं० ११।१) अदितिः + षोडशाक्षरेण = अदितिः षोडशाक्षरेण (शु० य० वे० सं० ९।३४) इन्द्राग्नी + आगतम् = इन्द्राग्नी आगतम् (शु० य० वे० सं० ७।३१) नमो + अस्तु = नमोऽस्तु इति (शु० य० वे० सं० १६।६४)।

आकाशस्था यथा विद्युत्स्फुटिता मणिसूत्रवत्।
एषच्छेदो विवृत्तीनां यथा बालेषु कर्त्तरी॥ ८॥

स्वर्ण मणी) रेखा के समान बिजली जितने समय में आकाश में चमकती है उतना ही समय "विवृत्ति" के उच्चारण में लगाना चाहिए। दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि बाल काटते समय कैंची से जो कट्ट की ध्वनि होती है उतना ही समय विवृत्ति के उच्चारण म लगाना चाहिए॥ ८॥

द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते।
विवृत्तिस्तत्र विज्ञेया यऽईशे तु निदर्शनम्॥ ९॥

दो स्वरों के बीच जहाँ पर सन्धि नहीं होती है उसे "विवृत्ति" कहते हैं जैसे "यऽईशे" यहाँ पर सन्धि नहीं हुई और विवृत्ति का ज्ञान कराने के लिए खण्डाकार (ऽ) चिह्न लगा दिया जाता है (शु० य० सं० २३।३)॥ ९॥

पिपीलिका पाकवती तथा वत्सानुसारिणी ।
वत्सानुसृजिता चैव चतस्रस्ता विवृत्तयः ॥ १० ॥

विवृत्ति चार प्रकार की होती हैं—(१) पिपीलिका (२) पाकवती (३) वत्सानुसारिणी और (४) वत्सानुसृजिता ॥ १० ॥

पिपीलिकाऽऽद्यन्त दीर्घा "नाभ्याऽआसीन्निदर्शनम् ।
पाकवत्युभयाह्रस्वा "विनऽइन्द्रेति दर्शनम् ॥ ११ ॥
वत्सानुसारिणी चादौ दीर्घा "ताऽअस्य दर्शनम् ।
अन्ते वत्सानुसृजिता "तान आवोदमश्विना" ॥ १२ ॥

जहाँ पर दोनों ओर दीर्घ स्वर हों और सन्धि का अभाव हो वहाँ पर पिपीलिका नाम की विवृत्ति होती है जैसे "नाभ्या आसीद्" यहाँ पर पूर्व तथा पर के दोनों स्वर दीर्घ हैं। (शु० य० सं० ३१।१३) इसी प्रकार पूर्व तथा पर के दोनों स्वर ह्रस्व हों तथा संधि का अभाव हो वहाँ पर पाकवती विवृत्ति होती है (शु० य० सं० ८।४४) जैसे विनऽइन्द्र यहाँ पर अकार और इकार दोनों स्वर ह्रस्व हैं। जिस स्थल में पूर्व स्वर दीर्घ हो पर स्वर ह्रस्व हो और सन्धि का अभाव हो वहाँ पर वत्सानुसारिणी नाम की विवृत्ति होती है जैसे "ता ऽअस्य' (शु० य० सं० १२।५५) यहाँ पर पूर्व स्वर दीर्घ है और पर स्वर ह्रस्व है। इसके विपरीत जहाँ पर पूर्व स्वर ह्रस्व हो तथा पर स्वर दीर्घ हो एवं संधि का अभाव हो वहां "वत्सानुसृजिता" नाम की विवृत्ति होती है जैसे "तानऽआवोदमश्विना" में (शु० य० सं० २०।८३) पूर्व स्वर ह्रस्व है पर स्वर दीर्घ है ॥ ११, १२ ॥

करिणी कुर्विणी चैव हरिणी हरिता तथा ।
तद्वद् हंसपदा नाम पञ्चैते स्वरभक्तयः ॥ १३ ॥

स्वर भक्ति के पाँच भेद हैं—(१) करिणी, (२) कुर्विणी, (३) हरिणी (४) हरिता और हंसपदा । (रकार और लकार से स्वर परक उष्मा को स्वरभक्ति कहते हैं) ॥ १३ ॥

करिणी रहयोर्योगे कुर्विणी लहकारयोः ।
हरिणी रशयोर्योगे हरिता लशकारयोः ॥ १४ ॥

यातु हंसपदा नाम सा तु रेफ षकारयोः ।
देवम्बर्हिश्च करिणी "उपवल्हेति कुर्विणी ॥ १५ ॥

हरिणी दर्शतमिति शतवल्शेति हारिता ।
व्वर्षो व्वर्षीयसीत्याहु स्तथा हसपदेति च ॥ १६ ॥

रकार और हकार के योग में "करिणी", लकार तथा हकार के योग में "कुर्विणी", एवं रकार और शकार के योग में "हरिणी" और लकार तथा शकार के योग में "हरिता" और रकार षकार के योग में हंसपदा नाम की स्वरभक्ति होती है । (शु० य० सं० २१।४८) 'देवम्बर्हिश्च" यहाँ पर रकार और हकार का योग) है अतः यहाँ करिणी नाम की स्वरभक्ति है । "उपवल्हा" (शु० य० सं० २३।५१) यहाँ पर लकार हकार का योग होने से कुर्विणी का उदाहरण है । 'दर्शतम्" (शु० य० सं० १२।३७) यहाँ पर रकार शकार का योग होने से हरिणी नाम की स्वरभक्ति है । "शतवल्शा" (शु० य० सं० १२।१००) यहाँ पर लकार शकार का योग होने से हरिता स्वरभक्ति है । "व्वर्षो व्वर्षीयः" (शु० य० सं० ६।११) यहाँ पर रकार को षकार का योग है अतः यह हंसपदा नाम की स्वरभक्ति का उदाहरण है ॥ १४, १५, १६ ॥

रलाभ्यां पर ऊष्माणो यत्र स्युः स्वरितोदयाः ।
स्वरभक्ति रसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते ॥ १७ ॥

रकार और लकार से स्वरपरक उष्मा (श ष स ह) परे हो तो उसे स्वर-भक्ति कहते हैं। पूर्व में स्थित रकार के साथ ही उष्मा का उच्चारण होता है। (विवृत्ति इत्यादि की भाँति बीच में व्यवधानपूर्वक नहीं पढ़ा जाता है) ।

स्वरभक्तिं प्रयुञ्जान स्त्रीन्दोषान्परिवर्जयेत् ।
इकार चाप्युकारञ्च ग्रस्तदोषं तथैव च ॥१८॥

स्वर भक्ति के उच्चारण में तीन दोषों का परित्याग करना चाहिये। इकार और उकार का उच्चारण न करे। स्थान करण-प्रयत्न आदि के विपर्यय से होने वाले "ग्रस्तदोष" नामक दोष से बचना चाहिये अर्थात् स्वरभक्ति में रकार का उच्चारण रि या रु न होकर रे का उच्चारण करना चाहिए ॥ १८ ॥

एतल्लक्षणमाख्यातं याज्ञवल्क्येन धीमता ।
सम्यक्पाठस्य सिध्यर्थं शिष्याणां हितकाम्यया ॥ १९ ॥

बुद्धिमान् याज्ञवल्य जो ने पाठों की समुचित शुद्ध व्यवस्था और छात्रों के कल्याण के लिए इस "स्वरभक्ति" का विवेचन किया है ॥१६॥

अर्धमात्रास्वरं किञ्चत् पृथङ् न्यूनमिवोच्चरन् ।
ऋकारे च लृकारे च हृत्कण्ठमनसापि च ॥ २० ॥

ऋकार और लृकार के उच्चारण में हृदय कण्ठ और मन से अर्ध-मात्रास्वर, स्वरभक्ति के समान एकार से कुछ ही भिन्न प्रकार का थोड़ा

कम एकार का उच्चारण करना चाहिए। (ऋ लृ का उच्चारण रे ले करे परन्तु स्वर भक्ति के रे से कुछ अल्पमात्रा में)

अर्धमात्रा तु कण्ठस्य एकारौकारयोर्भवेत् ॥

तालव्यस्य तथौष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमात् ॥ २१ ॥

एकार और ओकार में पूर्व का भाग कण्ठ्य तथा परका भाग क्रमशः तालव्य तथा ओष्ठ्य है। इसी प्रकार ऐ कार औकार में भी जानना चाहिए ॥ २१ ॥

अकारस्तु प्लुतो ज्ञेयः प्लुतमग्नाद्वितीयकम् ।

लाजीनिति तृतीयञ्च शाचीनिति चतुर्थकम् ॥ २२ ॥

पञ्चमं तु विवेशाधः स्विदासीद्दितिपष्ठकम् ।

सप्तमन्तु परिस्विदा ह्यष्टमं नैव विद्यते ॥ २३ ॥

अकार प्लुत होता है। शुक्ल यजु संहिता में सात ही स्थल प्लुत के हैं आठवां कोई नहीं है। ऊँकार पहला है। दूसरा "अग्ना" (शु० य० सं० ८।१०) तीसरा लाचीन् (शु० य० सं० २३।८) चौथा 'शाचीन्" (शु० य० वे० सं० २३।८) पाचवाँ विवेश" (शु०य० वे० सं० २३।४९) छठवाँ "अधः स्विदासीत्" (शु० य० वे० सं० ३३।७४) सातवाँ '-उपरि-स्विदासीत्" (शु० य० सं० ३३।७४) है ॥२२।२३॥

ऌकारस्य तु दीर्घत्वं नास्ति वाजसनेयिनः ॥

नैतत्स्वरित पूर्वाङ्गे नापराङ्गे कथञ्चन ॥ २४ ॥

न स्वरे न च मात्रायां कथं स्वारो विधीयते ॥

वाजसनेयी शाखा में लृकार दीर्घ नहीं होता। इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में यह पूर्व पक्ष किया गया है कि सन्ध्यान्तर या अनेक व्यंजनों के योगस्थल पर स्वरों को व्यवस्था कैसी होवे? व्यञ्जनों के योग में पूर्व वर्णों के साथ उदात्तादि स्वरों का उच्चारण नहीं हो सकता। अच् पर में हो अथवा स्वरभक्ति आदि में हो तब भी एक दूसरे के साथ उदात्तादि स्वरों का उच्चारण नहीं हो सकता अतः उक्त स्थलों पर स्वरों के उच्चारण का क्या विधान है?॥ २४॥

पराङ्गस्य तु यत्पूर्वं पूर्वाङ्गस्य तु यत्परम्।

उभयो रर्द्धं संयोगे स्वारङ्कुर्याद्विचक्षणः ॥२५॥

अनेक व्यञ्जनों के संयोग में पूर्व और पर का अर्ध भाग कर लेना चाहिये, पूर्व का उच्चारण पूर्वांग के साथ तथा पर स्वर का उच्चारण पराङ्ग के साथ करना चाहिए।

संयोगे तु परं स्वार्यं परं संयोग नायकम् ॥२६॥

संयुक्तस्य तु वर्णस्य न स्वार्यं पूर्वमक्षरम्।

अवग्रहे पदच्छेद उदात्तो दृश्यते यदि ॥२७॥

संयोग में पराङ्गभूत संयोग को स्वरयुक्त करना चाहिए। क्योंकि पर ही उस संयोग का नायक होता है। संयुक्त वर्णों में पूर्व संयोग वर्ण को उत्तर सयोग वर्ण के स्वर से युक्त नहीं करना चाहिए॥ अवग्रह और पदपाठ में पदों में उदात्त स्वर यदि दिखाई (बाद में स्वरित हो तो) पड़े॥ २६, २७॥

स्वरान्तं स्वरितं प्राहुः सन्धौ तु स्वार्यते परम्।

तो उदात्त के अन्त में व्यञ्जन को स्वरित स्वर होता है। सन्धि में अर्थात् संहितापाठ में पूर्वाङ्ग व्यञ्जन को भी पर के स्वर से युक्त करना चाहिए। जैसे—समिद्धिऽइति सम्। इद्धः। यहाँ पर मकार पदपाठ में उदात्त है वही संहिता पाठ में "इद्ध" के साथ स्वरित ही हुआ॥ २८॥

स्वरसन्धि विधानेन नीचोच्चत्वं विधीयते॥ २८॥
व्यञ्जनाद्वा स्वराद्वापि तत्सन्धौ स्वर उच्यते।
दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः॥ २९॥
एवं व्यञ्जन मासाद्य अकारो हरति स्वरम्।
स्वर उच्चः स्वरोनीचः स्वरः स्वरित एव च॥ ३०॥
स्वर प्रधानम् त्रैस्वर्यं व्यञ्जनन्तेन सस्वरम्।
मणिवद् व्यञ्जनान्याहुः सूत्रवत्स्वर ईष्यते॥ ३१॥

उदात्त अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर अचों के ही धर्म हैं पुनः पूर्व के श्लोकों में व्यञ्जनों के लिए स्वरित आदि स्वरों का विधान कैसे कहा गया? इस प्रश्न के उत्तर में ये श्लोक हैं—व्यञ्जन से परे वर्ण हो या स्वर से परे वर्ण हों वहाँ पर सन्धि नियमतः होती है। उसे "सन्धि स्वर" कहते हैं। व्यञ्जनों के व्यवधान की गणना स्वर सन्धि में नहीं की गयी हैं। अतः इसी साधारण दृष्टिकोण से व्यञ्जनों को भी स्वर का विधान कह दिया गया है जो औपचारिक है। जिस प्रकार बलवान् राजा दुर्बल राजा के राज्य को छीनकर अपना लेता है उसी प्रकार अकारादि स्वर व्यञ्जनों को अपने में मिलाकर उनको भी स्वरयुक्त बना देते हैं।

उदात्तादि स्वर भेद अचों के ही होते हैं। उदात्तादि अच् परक ही होते हैं। अतः उपचारात् व्यञ्जन भी अचों के स्वर से स्वरयुक्त मान लिए जाते हैं। व्यञ्जन (हल्) मणियों के समान हैं। स्वर (अच्)

सूत्र के समान हैं। माला में जिस प्रकार मणियां सूत्र का अनुवर्तन करती हैं उसी प्रकार व्यञ्जन भी स्वर का अनुकरण करते हैं॥ २८, २९, ३०, ३१॥

व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति सस्वरः।
उदात्तं नानुवर्त्तेत नीचं न स्वरितं तथा॥ ३२॥

व्यञ्जन स्वरों का अनुगमन करते हैं। जो व्यञ्जन उदात्त, अनुदात्त और व्यञ्जन का अनुवर्तन नहीं करता अर्थात् इन स्वरों से हीन होता है॥ ३२॥

विस्वरं तं विजानीयाद् दीर्घ ह्रस्व विवर्जितम्।
दीर्घादि से हीन व्यञ्जन विस्वर संज्ञक होता है॥

हरि-वरुण-वरेण्याश्च धारापुरुषौ तथा।
विश्वानरं विहायैकं शेषा रस्वरिता नराः॥ ३३॥

हरि, वरुण, वरेण्य, धारा, पुरुष, इनके रकार तथा "विश्वानर" शब्द में नर शब्द को छोड़कर अन्य नर शब्द के सभी रकार स्वरित होते हैं॥ ३३॥

द्वौ वरुणौ वस्वरितौ उदुत्तमं त्वं व्वरुणौ।
धाकारे चोरुधारायां तथा धारे च दोहने॥ ३४॥

"उदुत्तमम्" "त्वं व्वरुणम्" इन दोनों मन्त्रों के व्वरुण शब्द में—दोनों वकार स्वरित हैं। उरुधारा में धारापद का धा तथा दोहनकर्म-धार का धा स्वरित होता है॥ ३४॥

प्रथमायत्र दृश्यन्ते सन्धिस्थानेषु पूर्वतः।
स्ववर्गीयेण संयुक्ता मोक्षं तत्र न कारयेत्॥ ३५॥

सन्धि स्थलों में जहाँ पर वर्गों के प्रथमाक्षर क च ट त प अपने समान वर्णों से संयुक्त एवं पूर्व स्वर के अङ्गीभूत हों तो उनके उच्चारण में "मोक्ष" (स्थान करणादिक का त्याग) नहीं करना चाहिए। अर्थात् उसका स्पष्ट उच्चारण न करे ।। ३५ ।।

तकारान्ते पदे पूर्वे चवर्गे च परतः स्थिते ।
मोक्षं तत्र न कुर्वीत "यच्चशेपे" निदर्शनम् ।। ३६ ।।

पूर्व पद में तकार अन्त में हो और उत्तर पद में चकार आदि में स्थित हो तो सन्धि के बाद भी मोक्ष नहीं होता है जैसे "यच्चशेपे" इस पद में एक ही प्रयत्न से उच्चारण होगा ।। ३६ ।।

ककारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
खसवर्णं विजानीयात् भिषक्क्सीसे "निदर्शनम्" ।।३७।

पूर्वपद के अन्त में ककार हो, उसके बाद सकार हो तो बीच में खकार का आगम होता है। भिषक् + सीसे" यहाँ पर ककार का आगम हुआ जिससे दो ककार "भिषक्क्सीसे" ऐसा हुआ खकार नहीं हुआ। माध्यन्दिन शाखा में श्लोक ३७ से ४० तक की सवर्ण विधियाँ नहीं होती हैं ।। ३७ ।।

टकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थित ।
ठ सवर्णं विजानीयात् "सम्राट्ट्सम्भृत" दर्शनम् ।।३८।।

पूर्व पद के अन्त में टकार हो उसके बाद सकार परे हो तो बीच में ठकार का आगम होता है। सम्राट् + सम्भृतः" = सम्राट्ट्सम्भृतः यही हुआ ।।३८।।

पकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
फ सवर्णं विजानीयादप्फ्स्वग्ने इति दर्शनम् ॥३९॥

पूर्व पद के अन्त में पकार हो उसके बाद सकार हो तो मध्य में फकार होता है । अप् + स्वग्ने = अप्फ्स्वग्ने यह उदाहरण है ॥ ३९ ॥

पकारन्ते पदे पूर्वे शकारे परतः स्थिते ।
फ सवर्णं विजानीयादनुष्टुप्फ्शारदीति च ॥४०॥

तकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते ।
थ सवर्णं विजानीयात् तत्सवितुर्निदर्शनम् ॥४१॥

पूर्व पद के अन्त में पकार हो, उसके बाद शकार परे हो तो मध्य में फकार का आगम होता है जैसे अनुष्टुप् + शारदी = अनुष्टुप्फ्शारदी हुआ । पूर्व पद के अन्त में तकार हो उसके बाद सकार हो तो मध्य में थकार का आगम होता है जैसे तत् + सवितुः = तत्सवितुः बना ।४०।४१॥

नैतन्माध्यन्दिनीयानाम् सस्थानत्वात्तयोर्द्वयोः ।
सस्थानेऽपि द्वितीयं स्यादापस्तम्बस्य यन्मतम् ॥४२॥

उपर कहे गए प्रथमाक्षरों को द्वितायाक्षर का आगम माध्यन्दिनी शाखा में नहीं होता है क्योंकि दोनों का स्थान एक होता हैं । आपस्तम्ब महर्षि के मत में द्वितीयाक्षर होता है ॥ ४२ ॥

नकारान्ते पदे पूर्वे श्मश्रुभिः परतः स्थिते ।
छकारं न प्रयुञ्जीत "ञश" सन्धिंसमुच्चरेत् ॥४३॥

पूर्व पद के अन्त में नकार हो उसके बाद "श्मश्रु" शब्द हो तो नकार को च वर्ग ञ मात्र होता है छकार नहीं होता है । जैसे "आदित्याञ्श्मश्रुभिः यहाँ पर छकार नहीं होता ॥४३॥

नकारान्ते पदे पूर्वे त्वं पदे परतः स्थिते।
सकारं न प्रयुञ्जीत 'चिकित्वान्त्व मिदं यथा ॥४४॥

पूर्व पद के अन्त में नकार हो और उसके बाद 'त्वम्' पद हो तो बीच में सकार का प्रयोग नहीं होता है। जैसे "चिकित्वान्त्वम्" में सकार नहीं हुआ ॥ ४४ ॥

मकारान्ते पदे पूर्वे सवर्णे परतः स्थिते।
म सवर्णं विजानीयाद् "इमम्मे" इति दर्शनम् ॥४५॥

पूर्व पद के अन्त में मकार हो और उसके बाद में मकार ही हो तो मध्य में मकार ही रह जाता है। जैसे इमम् + मे = इमम्मे यहाँ पर मकार ही रह गया ॥ ४५ ॥

वर्णे तु मात्रिके पूर्वे ह्यनुस्वारो द्विमात्रिकः।
द्विमात्रिके मात्रिकः स्यात्संयोगाद्यश्चयोभवेत् ॥४६॥

एक मात्रिक अच् पूर्व में हो और उसके बाद अनुस्वार हो तो उसका उच्चारण दीर्घ गूँ होता है। दीर्घ स्वर पूर्व में हो और उसके बाद अनुस्वार का उच्चारण ह्रस्व गुँ होता है संयोगाक्षर के बाद के अनुस्वार का उच्चारण भी ह्रस्व गुँ होता है ॥ ४६ ॥

अनुस्वारस्योपरिष्टा त्संयोगो यत्र दृश्यते।
ह्रस्वं तं तु विजानीयात् "सꣳस्थामिति दर्शनम् ॥४७॥

दीर्घ अथवा ह्रस्व वर्णों के बाद अनुस्वार हो और उसके बाद संयुक्त वर्ण हों तो अनुस्वार का उच्चारण ह्रस्व गुँ ही होता है। जैसे— "सꣳस्थाम्" यहां पर ह्रस्व के बाद अनुवार के दीर्घ गूँ न होकर ह्रस्व ꣳ ही हुआ ॥ ४७ ॥

अनुस्वारो द्विमात्रः स्याद्वर्णव्यञ्जनादिगः ।
ह्रस्वाद् वा यदि वा दीर्घाद् देवाना ६ हृदये यथा ॥४८॥

पूर्व पद में ह्रस्व या दीर्घ के बाद अनुस्वार से ऋकार युक्त व्यंजन पर में हो तो अनुस्वार का उच्चारण दीर्घ गूँ होता है। जैसे "देवाना ६ हृदये" यहाँ पर दीर्घ के बाद भी अनुस्वार का उच्चारण ऋकार युक्त हकार व्यंजन हृ के परे रहते दीर्घ गूँ ही होता है ॥ ४८ ॥

अनुस्वारस्तु यो दीर्घादक्षराद्यो भवेत्परः ।
स तु ह्रस्व इति ज्ञेयो मन्त्रेष्वेव विभाषया ॥४९॥

दीर्घाक्षर के पश्चात् अनुस्वार का उच्चारण सभी स्थलों पर ह्रस्व गुँ ही होता है। पूर्व में जो ऋकार युक्त व्यञ्जन परे रहते अनुस्वार का दीर्घ गूँ का जो विधान किया गया वह व्यवस्थित विकल्प के रूप में ही है। अर्थात् केवल मन्त्रभाग में ही वह ह्रस्व गुँ उच्चरित होगा और ब्राह्मण आदि भागों में नियत रूप से ह्रस्व गुँ ही उच्चरित होगा ॥४९॥

ओभावश्चविवृत्तिश्च श-ष-सारेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः ॥५०॥

विसर्ग के आठ प्रकार के रूप होते हैं। वे क्रमशः १ ओभाव, २ विवृत्ति, ३ शकार, ४ षकार, ५ सकार, ६ रकार, ७ जिह्वामूल और ८ उपध्मानीय हैं ॥ ५० ॥

यद्योभाव प्रसन्धान मुकारादि परं पदम् ।
स्वरान्तं तादृशं विद्याद् यदन्यद् व्यक्तमूष्मणः ॥५१॥

जहाँ पर उत्तर (पर) पद में उकार आदि में तथा पूर्व पद में अकार हो वहाँ पर गुण होकर ओकार होता है वह विसर्ग के ओभाव का उदाहरण नहीं है। जहाँ पर पर-पद अकारादि हो पूर्व में अकार के बाद

विसर्ग हो वहाँ पर ओ भाव का उदाहरण होता है। जैसे इषेत्वोर्ज्जेत्वा यहाँ पर त्वा + उर्ज्जे गुण होकर ओ हुआ है अतः यह ओभाव का उदाहरण नहीं है। 'कुक्कुटः + असि = कुक्कुटोऽसि' यह ओभाव का उदाहरण है ॥ ५१ ॥

आभावगता योष्मा तां तु केलिं विनिर्दिशेत् ।
विवृत्तिप्रत्यया चोष्मा विज्ञेया विकटानना ॥ ५२ ॥
लीढाऽतिलीढ-विधुच्च श ष सेषु प्रकीर्त्तिताः ।
जिह्वामूले च रेफे च विज्ञेया विकटा शठा ॥ ५३ ॥
उपध्मानीय सहिता पुष्पिणान्तां विनिर्दिशेत् ।
अन्यत्र या भवेदुष्मा सुलभां तां विनिर्दिशेत ॥ ५४ ॥

ओभाव को प्राप्त उष्मा विसर्ग) सुखपूर्वक उच्चरित होने के कारण 'केलि' संज्ञक है। विवृत्ति रूप प्राप्त उष्मा प्रयासपूर्वक उच्चरित होने से विकटा कही जाती है। शकार रूप में जिह्वा को तालु से सटाकर उच्चरित होने से 'लीढा' नाम की है। जिह्वा के द्वारा तालु का स्पर्श करते हुए चाटकर स्वाद लेने को लाढ कहते हैं। ष के रूपवाली उष्मा 'अतिलीढा' कही जाती है कारण कि इसके उच्चारण में जिह्वा तालु से प्रयासपूर्वक अत्यन्त आस्वादन जैसा मुख करना पडता है। सकार रूप में उष्मा झटिति उच्चरित होने से विद्युत् संज्ञावाली कही जाती है। जिह्वामूल रूप में उष्मा, मुख को आयासित करने के कारण विकटा नाम वाली तथा रेफ के रूप में 'शठा' नाम वाली होती है। उपध्मानीय के उच्चारण में मुख के विकसित होने के कारण पुष्पणी नाम की उष्मा होती है। इन उपर्युक्त आठ प्रकारों से रहित शुद्ध रूप में उष्मा (विसर्ग) सुलभा संज्ञक कही जाता हैं कारण कि विसर्ग के उच्चारण में कोई कठिनाई नहीं होती हैं ॥ ५२, ५३, ५४ ॥

पादाद्यं च पदाद्यञ्च तथाऽवग्रहकालिकम् ।
सुस्पृष्टं वं विजानीयात् तत्तत्काल निबन्धनम् ॥ ५५ ॥

पाद के आदि में तथा पद के आदि में एवं अवग्रह के समय वकार का उच्चारण गुरु के समान करना चाहिए। अर्थ के समय उसे ह्रस्व ही माना जावेगा ॥ ५५ ॥

पादादौ च पदादौ च संयोगाऽवग्रहेषु यः ।
ज शब्द इति विज्ञेयो योऽन्यः स य इति स्मृतः ॥५६॥

पाद के आदि में, पद के आदि में, अवग्रह में, संयोग में यकार का उच्चारण ज होता है। अन्यत्र य उच्चारण होता है। पाद के आदि का एवं पद के आदि का उदाहरण 'यज्ञे न यज्ञम्' है। संयोग का उदाहरण "सूर्य्यं" है। अवग्रह (वेष्टन) का उदाहरण यज्ञा यज्ञियमिति" है ॥५६॥

वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघूतरः ।
आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूतरः ॥ ५७ ॥

वकार तीन प्रकार का होता है। [1]गुरु [2]लघु और [3]लघुतर। पद के आदि के वकार का उच्चारण द्विमात्रिक होता है। पद के मध्य का उच्चारण समकालिक मात्रा में होता है। पद के अन्त में (सन्धि के फलस्वरूप) वकार का उच्चारण आधी मात्रा का होता है ॥ ५७ ॥

सन्धिजौ च पदान्तीया-वुपसर्ग परौ लघू ।
अथ-मा-स-न-शब्देभ्यो विभाषाऽऽम्रेडिते यवौ ॥५८॥

सन्धि से (इकोयणचि आदि) होने वाले तथा उपसर्गों के बाद में आने वाले यकार वकार का उच्चारण लघुतर रूप में होता है। अथ शब्द-मा शब्द-स शब्द-न शब्द से परे आम्रेडित संज्ञक यकार और वकार का उच्चारण भी लघुतर रूप से होता है ॥ ५८ ॥

पञ्चमादुत्तरो यो वो यदि नैक पदे भवेत् ।
संहितायां लघु सोऽथ पदकाले गुरुर्भवेत् ।। ५९ ।।

वर्गों के पञ्चम वर्ण के बाद भिन्न पद में यदि य और व हों तो संहिता पाठ में उनका उच्चारण लघु के समान होता है। वे ही य-व-पद पाठ में गुरु उच्चरित होते हैं ।। ५९ ।।

हकाररेफसंयुक्त ऋवर्णोदय एव वा ।
सुस्पष्टं तं विजानीयाद् यकारो नान्ययुग् यदि ।। ६० ।।

रकार अथवा हकार से युक्त यकार यदि अन्य व्यञ्जन से युक्त न हो तो उसका उच्चारण ज एवं दीर्घ के सदृश होता है। य के बाद यदि ऋकार हो तो भी दीर्घ उच्चारण होता है। "एव" कथन से अन्य स्थलों का निषेध समझना चाहिए ।। ६० ।।

हकारं पञ्चमैर्युक्त मन्तस्थाभिश्च संयुतम् ।
औरसं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहु रसंयुतम् ।। ६१ ।।

वर्गों के पञ्चम वर्ण (ञमङणन) अथवा य र ल व के साथ संयुक्त हकार उरः स्थान वाला होता है। इनसे असंयुक्त हकार कण्ठ स्थानीय माना जाता है ।। ६१ ।।

हकारोयत्र पूर्वस्यो ह्यन्तस्थाद्यो भवेत्परः ।
पदकाले वियुज्येत संहितायां स औरसः ।। ६२ ।

जिस स्थल पर हकार यकार संयुक्त हो अर्थात् हकार के बाद यकार हो, पद पाठ में यकार से रहित होने पर वह हकार (कण्ठ्य) माना जाता है। जैसे— 'सि ꣳ ह्यसि" के पद पाठ में सि ꣳ हि। असि। यहां पर यकार से रहित हकार कण्ठ्य है। संहिता क्रम पाठ में वही हकार औरस माना जाता है ।। ६२ ।।

मेघदुन्दुभि निर्घोषो ज्ञायते पयसो ह्रदात् ।
एवं नादः प्रयोक्तव्यः सिंहस्य रुदितं यथा ।। ६३ ।।

यहां से वर्णों की उच्चारण विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं। मेघ की ध्वनि के समान, तालाव से निकलते हुए जल के गंभीर ध्वनि के समान तथा सिंह की गर्जना के समान औरस हकार का उच्चारण करना चाहिए ।। ६३ ।।

मासे भाद्रपदे मेघाः शब्दं कुर्वन्ति यादृशम् ।
एवं गह्वरमासाद्य "शुक्रम् दुदुहे" दर्शनम् ।। ६४ ।।

भादों के महीने में मेघ गर्जन करते हैं। वह गर्जन गुफा में प्रतिध्वनित होकर जैसे गूंजता है वैसे ही हकार का उच्चारण "शुक्रं दुद्रुहे अह्नय:" (शु. य. सं. ३।१६) इन स्थानों पर करना चाहिए ।। ६४ ।।

शाखायां वानरा यद्वन् निपतन्त्युत्पतन्तिच ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या "इहेहैषां" निदर्शनम् ।। ६५ ।।

वृक्ष की डालों पर वानर जिस प्रकार शीघ्रता से चढ़ते उतरते हैं उसी प्रकार "इहेहैषाम्" इत्यादि स्थलों पर अनुदात्त के बाद उदात्त तथा उदात्त के बाद स्वरित के उच्चारण में विलम्ब नहीं करना चाहिए ६५।।

कुक्कुटः कामलुब्धो यः ककार द्वयमुच्चरेत् ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः कुक्कुटोसि निदर्शनम् ।। ६६ ।।

जिस प्रकार कामी कुक्कुट (मुर्गा) कुक् कुक् शब्द करता हुआ दो ककारों का उच्चारण करता है उसी प्रकार "कुक्कुटोसि" (शु. सं. १।१६) इत्यादि ऐसे स्थलों पर संयुक्त ककार का उच्चारण करना चाहिए। अर्थात् संयोग के आदि ककार के उच्चारण स्थान करण का विच्छेद न करते हुए एक मात्रिक उच्चारण करे ।। ६६ ।।

यथापुत्रवती स्नेहाच्चुम्बते निजमौरसम् ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः "युञ्जान" इति दर्शनम् ।। ६७ ।।

जिस प्रकार पुत्रवती स्त्री प्रेमाधिक्य से अपने पुत्र का मुख चुम्बन करते समय मुख का मुद्रा बनाती है उसी प्रकार चवर्ग के पञ्चमाक्षर से युक्त चवर्ग का उच्चारण मुख को गोल बनाकर "युञ्जानः" आदि ऐसे स्थलों पर करे ।। ६७ ।।

वडवा च हयं दृष्ट्वा योनिं विकुरुते यथा ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः "सदुन्दुभे" ति निदर्शनम् ।। ६८ ।।

घोड़ी घोड़े को देखकर अपनी योनि का संकोचन-विकोचन करती है उसी प्रकार की मुख मुद्रा बनाकर 'सन्दुदुभे" इत्यादि स्थलों पर नकार का उच्चारण एक मात्रिक करना चाहिए ।। ६८ ।।

दर्दुरोदरदेशौतु प्रफुल्लेते पुनर्यथा ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः "अपाम्फेने" निदर्शनम् ।। ६९ ।।

मेढक टर्र टर्र करते समय जिस प्रकार अपने गाल के दोनों भागों को फुला लेता है तथा पुनः पिचका लेता है उसी प्रकार "अपाम्फेनेन" ऐसे स्थलों पर फकार के उच्चारण के समय गालों को फुलाकर (ओठों को गोल बनाकर) पुनः सामान्य कर लेवे ।। ६९ ।।

यथाभारभराक्रान्ता निश्वसन्ति नरा भुवि ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्याः "अद्भ्यः सम्भृत" इत्यपि ।।७०।।

जिस प्रकार भार ढोता हुआ मनुष्य मुख खोलकर लम्बी लम्बी श्वास लेता है उसी प्रकार "अद्भ्यः सम्भृत" इत्यादिक स्थानों पर विसर्ग के उच्चारण में मुख विवृत करना चाहिए ।। ७० ।।

यथा कामातुरा नारी शब्दं कुर्याद् दिने दिने ।
तच्छब्दं कुरुते प्राज्ञः "सिंश्च ह्यसि" निदर्शनम् ।।७१।।

कामातुरा नारी रतिकाल में जिस प्रकार सिऽ. सिऽ. ध्वनि करती है उसी प्रकार विद्वान् को चाहिए कि "सिंश्च ह्यसि" आदि स्थानों पर सि का उच्चारण द्वि मात्रिक करे ।। ७१ ।।

पक्षौ वितत्य खे गृद्धो भ्रान्त्या संकुच्य तिष्ठति ।
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या "वार्ध्रीनसो" निदर्शनम् ।। ७२ ।।

जिस प्रकार गिद्ध पत्ती आकाश में उड़ते समय अपने पंखों को फैला कर पुनः संकुचित कर स्थित रहता है उसी प्रकार 'वार्ध्रीनसो (शु. य. सं. २४।३६) जैसे स्थलों पर दीर्घ वर्णों के उच्चारण में मुख को विवृत कर झटिति संकुचित कर लेना चाहिए।। ७२।।

रङ्गे चैव समुत्पन्ने नोग्रसेत्पूर्वमक्षरम् ।
स्वरं दीर्घं प्रयुञ्जीत पश्चान्नासिक्य मुच्चरेत् ।। ७३ ।।

आचार्य विभिन्न वर्णों के उच्चारण प्रसङ्ग में "रङ्ग" के उच्चारण का विवेचन करते हैं। पदान्त में नकार और मकार को जहां पर अनुनासिक होता है उस अनुनासिक (अनुस्वार) को रङ्ग कहते हैं। रङ्ग के उच्चारण में पूर्व अक्षर स्वर) को ग्रसित न करे। अर्थात् उसे एक मात्रिक के समान झटिति उच्चारण न कर विलम्बित दीर्घ के समान उच्चारण करे। पूर्वाक्षर के दीर्घ उच्चारण के बाद रङ्ग (अर्धानुस्वार) का उच्चारण करे ।। ७३ ।।

यथा सौराष्ट्रिका नारी अराँ २॥ऽ इत्यभिभाषते ।
एवं रङ्गः प्रयोक्तव्यो ङकार परिवर्जितः ।। ७४ ।।

सौराष्ट्र देश की नारी "अराँ का उच्चारण जिस प्रकार करती है उसी प्रकार 'रङ्ग' का उच्चारण ङ्कार श्रुति रहित करना चाहिए ।७४।।

द्विमात्रो मात्रिको वापि नासामूलं समाश्रितः ।
अन्ते प्रयुज्यते रङ्गः पञ्चमैः सर्वनासिकः ।। ७५ ।।

द्विमात्रिक तथा एकमात्रिक दोनों प्रकार के रङ्ग का उच्चारण स्थान नासिकामूल है । वर्गों के पञ्चम वर्ण से उत्पन्न स्वर के उच्चारण के अन्त में उच्चरित होता है । यह रङ्ग अनुनासिक स्वर के समान मुख नासिका वचन न होकर शुद्ध नासिक्य ही होता है । दो स्वरों के बीच में जैसे—लोकाँ अकल्पयन्" में आकार का द्विमात्रिक उच्चारण करने के बाद अनुस्वार (अर्ध) का उच्चारण ङ्वर्जित किया जावेगा । दो स्वरों के बीच रेफ व्यवहित भी द्विमात्रिक रङ्ग होता है जैसे "शत्रूँ२ रप" में है । स्वर व्यञ्जन के मध्य में उष्मा व्यवहित एकमात्रिक रङ्ग होता है जैसे "चामैर यँश्चन्द्रमसि" इत्यादि ।। ७५ ।।

अनन्तरं मकारस्य यो रङ्ग स्तत्र रज्यते ।
सर्वानुनासिकं विद्या देषा मन्योपधानिका ।। ७६ ।।

मकार के बाद अन्तस्थ अथवा उष्मासंज्ञक वर्ण परे हों वहाँ पर मकार का रंग (अनुनासिक) पूर्ण अनुनासिक ही होता है । परन्तु यह रङ्ग न कहा कर "उपधानिका" नाम से व्यवहृत होता है और एक मात्रिक ही रहता है । कारण यह है कि रषह परे रहते मकार को अनुस्वार ही माध्यन्दिनशाखा में होता है अनुनासिक नहीं ।

यरलवाः शषसहा अष्टैते चोपधानिनः ।
वर्गान्ते रज्यते यस्तु सर्वैः सर्वानुनासिकः ।। ७७ ।।

यरलव ये अन्तस्थ वर्ण, शषसह ये उष्मासंज्ञक वर्ण उपधानी कहे जाते हैं । इनके परे रहते मकार नकार के स्थान में हुआ रङ्ग (अनु-

नासिक) सर्वानुनासिक ही होता है और उसकी उपधानिका संज्ञा होती है ॥ ७७ ॥

नस्त उत्पद्यते रङ्गः कांस्येन समनिस्वनः ॥
मृदुश्चैव द्विमात्रः स्याद् वृष्टिमा ँ॥ इव दर्शनम् ॥७८॥

रङ्ग नासिका के मूल भाग से उच्चरित होता है और कांसे के बर्तन से निकली हुई ध्वनि के समान मृदु और द्विमात्रिक होता है। अनुस्वार के समान घोष वाला इसका उच्चारण नहीं होता है। नादहीन उच्चारण होता है। उदाहरण—वृष्टिमाँ ँ॥ इव ॥ है ॥ ७८ ॥

यादृशी रत्नवर्णाभा जपायाः कुसुमेऽथवा ।
तादृशं रञ्जयेद्वर्णं प्रान्ते नासिक्यमाचरेत् ॥ ७९ ॥

जिस प्रकार माणिक्य की रक्ताभ कान्ति तथा जपाकुसुम (ओड़हुल का फूल) की रक्ताभ कान्ति सम्पूर्ण रत्न एवं पुष्पों में रहती हुई किनारे की ओर अधिक भासित होती है उसी प्रकार रङ्ग का उच्चारण स्वर के उच्चारण के बाद में द्विमात्रिक करना चाहिए ॥ ७९ ॥

लाक्षारक्तं यथा तोयं नकारान्तं पदं तथा ।
सर्वं रङ्गं विजानीयाच् छत्रूनिति निदर्शनम् ॥ ८० ॥

लाही (लाल वर्ण का रंग) के रंग से रंजित जल में जैसी अभिन्नता होती है उसी तरह नकारान्त पद पूर्णरूप से सर्वानुनासिक रङ्ग होता है। "शत्रून् इति" इत्यादि स्थलों पर नकार का रङ्ग, द्विमात्रिक एवं सर्वानुनासिक होता है ॥ ८० ॥

लुप्ते नकारे यत्स्वारं रञ्जन्ति शौनकादयः ।
एवं रङ्गं विजानीयान् नाभ्याऽआसी न्निदर्शनम् ॥ ८१ ॥

ऋग्वेद शाखाकार शौनकादि ऋषिगण नकार के लुप्त होने पर

भी उसके पूर्ण स्वर को अनुनासिक करते हैं उसे भी रङ्ग कहा जाता है जैसे—नाभ्या आसीद् इस मंत्र में "लोकाँ३ अकल्पयन् यहां पर नकार के लुप्त होने पर भी ककार के उत्तरवर्ती आकार का रङ्ग उच्चारण होता है ॥ ८१ ॥

पञ्चरङ्गा प्रवर्तन्ते घातनिर्घातवज्रिणाः ।
अहिणः प्रहिणो ज्ञेय आ ई ऊ ऋ ओदर्शनम् ॥ ८२ ॥

रङ्ग के बाद आस्वर हो तो उस रङ्ग की 'घात' संज्ञा, ईस्वर परे हो तो "निर्घात" संज्ञा, ऊस्वर परे हो तो "वज्रो" संज्ञा, ऋस्वर परे हो तो "अहिण" संज्ञा और ओस्वर परे हो तो 'प्रहिण" संज्ञा होती है ॥८२॥

यथा व्याघ्री हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभिर्नच पीडयेत् ।
भीतापतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान्प्रयोजयेत् ॥ ८३ ॥

वाघिन अपने बच्चों को मुख से इस प्रकार पकड़ कर दूसरे स्थान पर ले जाती है जिससे वे गिरे भा नहीं और दाँतों से पीड़ित भी न हों। उसी प्रकार वर्णों का उच्चारण करना जाहिए। वर्णों का उच्चारण शिथिल और पीड़ित नहीं होना चाहिए ॥८३॥

मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीड़ितम् ।
सनाथस्येव देशस्य न वर्णाः सङ्करङ्गताः ॥ ८४ ॥

वर्णों को उच्चारण प्रक्रिया का निर्देश आचार्य करते हैं कि वर्णों का उच्चारण मधुर हो पर अस्फुट न हो। स्फुट हो तो पीड़ित भी न हो। जिस प्रकार सुशासक राजा के राज्य में ब्राह्मणादिक वर्ण अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हैं वर्ण सङ्कर दोष से रहित होते हैं उसी प्रकार उच्चारण के समय एक वर्ण दूसरे से मिल न जावें यह ध्यान रखना चाहिए ॥८४॥

यथा सुमत्तनागेन्द्रः पदात्पदं निधापयेत् ।
एवं पदं पदाद्यन्तं दर्शनीयं पृथक् पृथक् ।। ८५ ।।

यहाँ से पदोच्चारण विधि का वर्णन है। जिस प्रकार मतवाला हाथी अपने पैरों को क्रमशः एक के बाद एक को रखता है उसी प्रकार एक पद के उच्चारण के बाद दूसरे पद का उच्चारण (एक मात्रा व्यवधान कर) करना चाहिए जिससे अर्थ की सुस्पष्टता बनी रहे ।।८५।।

गीती शीघ्री शिरःकम्पी यथालिखित पाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ।। ८६ ।।

गा कर पढ़ना, शीघ्रता से पढ़ना, शिर कँपाना, केवल पुस्तक से पढ़ने वाला (गुरु परम्परा से हीन) अभिप्राय (विनियोगादिक) को न जानने वाला, अल्पकण्ठध्वनि वाला ये ६ प्रकार के अधम पाठक हैं ।। ८६ ।।

माधुर्यमक्षरं व्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमत्वं च षडेते पाठके गुणाः ।। ८७ ।।

मधुर बोलना, वर्णों की स्पष्ट अभिव्यक्ति, पदों के विभाग का ज्ञान सुन्दर कण्ठ स्वर, धैर्य तथा काल और क्रिया की समता का ज्ञान ये ६ प्रकार के पाठक के गुण हैं ।।८७।।

आचार्याः सममिच्छन्ति पदच्छेदन्तु पण्डिताः ।
स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति विक्रुष्ट मितरे जनाः ।। ८८ ।।

आचार्य गण "सम" नामक पाठ विधि की अभिलाषा करते हैं। पण्डितगण (अर्थज्ञ जन) पदच्छेद पूर्वक पाठ की इच्छा करते हैं।

स्त्रियाँ मधुर स्वर से पाठ की कामना करती हैं। शेष लोग विक्रुष्ट (उच्चस्वर) स्वर के अभिलाषी होते हैं ॥८८॥

आवर्तते पदं यच्च द्विस्त्रिराम्रेडितं हि तत् ।
यथा च "धाम्ने धाम्ने" "यजुषे यजुषे" ऽपि च ॥८९॥

दो या तीन अक्षरों के पदों का द्वि आवृत्ति में दूसरे पद को आम्रेडित संज्ञा होती है। धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे में द्वितीय धाम्ने और यजुषे आम्रेडित संज्ञक हैं ॥८९॥

हीयते वर्द्धते वापि पदं यच्च कृशोदरम् ॥
उपचारः सविज्ञेयः 'उभेसुश्चन्द्र" दर्शनम् ॥ ९० ॥

कहीं पर वर्णों का लोप कहीं पर आगम, कहीं पर (कृशोदर) अनुनासिक (रङ्ग) से संकुचित मध्य होते हैं उनको "उपचार" कहा जाता है। उभेसुश्चन्द्र यह उदाहरण है ॥९०॥

प्रथमेन षकारेण सकारेणैव संयुतम् ।
एतत्स्वरं समासाद्य अग्निष्वात्ता निदर्शनम् ॥ ९१ ॥

पहले पद में सकार युक्त पद स्वरों का प्राप्त कर अर्थात् इण् से परे होकर षकार के रूप में परिवर्तित हो जाता है। "स्वात्ता:" पद अग्नि के बाद आने पर "अग्निस्वात्ता" ऐसा बन जाता है ॥९१॥

प्रथमे न ठकारेण थकारेणैव संयुतम् ।
एतत्स्वरं समासाद्य "अधिष्ठानं" निदर्शनम् ॥ ९२ ॥

पहले थकार से युक्त पद जैसे स्थानम् में है वह पूर्व पद के स्वर (इकारादि) ष से परे होकर सकार को षकार तथा थकार को ठकार होता है। अधिष्ठानम् यह उदाहरण है ॥९२॥

प्रथमे न णकारेण नकारेणैव संयुतम् ।
एतदक्षर मासाद्य "त्रिणवेति" निदर्शनम् ॥ ९३ ॥

पहले पद में नकार ही रहता है णकार नहीं। वही स्वर एवं र ष के बाद हो तो नकार को णकार हो जाता है जैसे त्रिणव इत्यादि।९३।

प्रथमे नैव रङ्गेण नकारेण च संयुतम् ।
एतद्रञ्जितमासाद्य वृष्टिमा ३॥ इव" दर्शनम् ॥ ९४ ॥

पहले रङ्ग (अनुनासिक अर्वानुस्वार) से युक्त न हो अपितु नकार से युक्त हो वहाँ पर उपधानुनासिक रूप नकार को विकार होने पर। वृष्टिमा ३ "इव" ऐसा पढ़ना चाहिये। वृष्टिमान् + इव = यहाँ पर नकार यकार होता है उसके बाद यकार को अनुनासिक होता है। वृष्टियान् इव बनता है तत्पश्चात् य का लोप होकर वृष्टिमा ँ" इव दीर्घ रङ्ग श्रुति होतीहै ॥ ९४ ॥

यहाँ से स्वर रहित व्यञ्जनों के संयोग का निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

अथ सप्तविधाः संयोग पिण्डाः अयः पिण्डो दारुपिण्ड ऊर्णापिण्डो, ज्वालापिण्डो मृत्पिण्डो वायुपिण्डो वज्रपिण्डश्चेति—स्वर रहित अनेक व्यञ्जनयुत पद सात प्रकार के होते हैं। १—अयः पिण्ड २—दारुपिण्ड ३—ऊर्णापिण्ड ४—ज्वालापिण्ड ५—मृत्पिण्ड ६—वायुपिण्ड ७—वज्रपिण्ड।

यमान् विद्यादयः पिण्डान् सान्तस्थान्दारुपिण्डकान् ।
अन्तस्थयमवर्जं तमूर्णा पिण्ड विनिर्दिशेत् ॥ ९५ ॥
अन्तस्थयमसंयोगे विशेषो नोपलभ्यते ।
अशरीरं यमं विद्यादन्तस्थं पिण्डनायकम् ॥ ९६ ॥

यमों का संयोग अयः पिण्ड है। य र ल व के सहित सयोग दारु पिण्ड है। अन्तस्थ एवं यम से रहित उष्म संज्ञक वर्णों का संयोग उर्णा-पिण्ड है ॥९५॥ उष्मवर्णों के संयोग के सान्निध्य में अन्तस्थ और यमों के आ जाने पर भी उच्चारणादि में कोई विशेषता नहीं होती है अतः वहाँ भी उर्णापिण्ड ही माना जाता है। यम अशरीरी होता है। ॥९५।९६॥

ज्वालापिण्डान् सनासिक्यान् सानुस्वारांस्तु मृण्मयान्।
सोपध्मानान् वायुपिण्डान् जिह्वामूले तु वज्रिणः॥ ९७॥

नासिक्य (नकार) वर्णों से युक्त हकार का संयोग ज्वालापिण्ड है। पूर्णानुस्वार युक्त संयोग मृत्पिण्ड है। उपध्मानीय वर्णों से युक्त संयोग वायुपिण्ड है। जिह्वामूलीय वर्णों का उष्मा के साथ संयोग वज्र-पिण्ड है ॥ ९७॥

अयः पिण्डो यथा—अग्निः, पत्क्नीः, तनच्मि, यक्क्ना इति ॥ दारुपिण्डो यथा—अश्वः। सूर्य्यः। बिल्मिने, विश्व-जनस्य, व्वोर्य्यम् इति ॥ उर्णापिण्डो यथा—अश्मन्, कृष्णः, अमुष्मिन्, आस्मिन्, कुक्कुटः इति ॥ ज्वाला पिण्डो यथा—ब्रह्म, वह्नितमम्, गृह्णामि इति ॥ मृत्पिण्डो यथा—ताꣳसवितुः सꣳस्थाम्, लोका ꣳऽऽ अकल्पयन्, यामैरयँ श्चन्द्रमसि इति ॥ वायुपिण्डो यथा—देव सवितः प्रसुव, द्यौष्पिता, याः फलिनीः, इति ॥ वज्रपिण्डो यथा ऋक्क्सामयोः, इष्क्कृतिः, दिवः ककुत् इति ॥ एते ककारादयो मकारावसानाः कृष्णाः पञ्चविंशति स्पर्शाः व्याख्याताः शनैश्चर देवत्याः। चत्वारोऽन्तस्था यरलवा

कपिलवर्णा अग्निदेवत्याः । चत्वार उष्माणः शषसहा अरुण वर्णा आदित्य देवत्याः । एवं त्रयस्त्रिंशद् व्यन्जनानि ।

स्वरो के वर्ण और देवताओं का वर्णन पहले किया गया है । यहां पर व्यञ्जनों के वर्ण एवं देवताओं का वर्णन करते हैं—क से लेकर म तक के पच्चीस वर्ण स्पर्श संज्ञक हैं और इनके देवता शनैश्चर हैं । रङ्ग इनका कृष्ण है । य व, र, ल ये चार वर्ण अन्तस्थ संज्ञक हैं एवं इनका वर्ण कपिल हैं तथा देवता अग्नि हैं । शषसह ये चार वर्ण उष्मा संज्ञक हैं इनका वर्ण लाल है तथा आदित्य देवता हैं । इस प्रकार तैंतीस व्यन्जन हैं ।

चतुर्विधंकरणं, स्पृष्टमस्पृष्टं, संवृतम् विवृतञ्चेति—-स्पृष्टाः स्पर्शाः अस्पृष्टाः अन्ये ।। संवृता घोषाः । विवृता अघोषाः । विंशति घोषास्ते गजडदाब घझढधभा, ङञणनमा, यरलवा हकार श्चेति । त्रयोदशाऽघोषास्ते—कचटतपा, खछठथफा, शषसाश्चेति ।

वर्णों के प्रयत्न (करण) चार हैं १ स्पृष्ट, २ अस्पृष्ट, ३ संवृत ४ विवृत । स्पर्श संज्ञकों का स्पृष्ट करण (प्रयत्न) है । शेष अस्पृष्ट प्रयत्न के हैं । घोष वाले संवृत प्रयत्न के हैं । अघोष वर्ण विवृत प्रयत्न के होते हैं ।

गजडदब घझढधभ, ङञणनम, य र ल व ह ये बीस अक्षर घोष संज्ञक हैं । क च ट त प, ख छ ठ थ फ, शषस ये तेरह अक्षर अघोष हैं ।

दशधा वर्णाः भवन्ति औरस, कण्ठ्य, मूर्धन्य, दन्त्योष्ठ्यतालव्यदन्तमूलीय जिह्वामूलीय यमानुस्वाराश्चेति ।

वर्णों के दस भेद हैं—उरस् (छाती से) से उत्पन्न होने वाला औरस कहा जाता है। कण्ठ से उत्पन्न कण्ठ्य, मूर्धा से उत्पन्न "मूर्धन्य" दांतों से उत्पन्न "दन्त्य," ओठों से निष्पन्न "ओष्ठ्य" तालु से उत्पन्न "तालव्य" दांतों के मूल से उच्चरित दन्तमूलीय, जिह्वा के मूल भाग से उच्चरित "जिह्वामूलीय" कहा जाता है। ये आठ प्रकार तथा यम और अनुस्वार ये मिला कर दस प्रकार के हैं।

तत्र ह्वा औरसो ह्व इति ह्म इति ।

ह्व तथा ह्म इत्यादि अन्तस्थ युक्त एवं पञ्चमवर्णयुक्त हकार औरस माना जाता है। उदाहरण—सिंह्व ह्यसि। दुदुह्वे अह्लयः इत्यादि।

त्रयः कण्ठ्याः अ आ आ३ इत्यवर्णं हकार विसर्जनीया इति ।

ह्रस्व दीर्घ प्लुत अकार औरस भिन्न हकार और विसर्ग ये कण्ठ स्थानीय हैं।

षण्मूर्धन्याः ट ठ ड ढ णषा इति ।

ट ठ ड ढ ण ष ये ६ वर्ण तालु से भी उपरि भाग से जिह्वा को मोड़ते हुए उच्चरित होते हैं अतः मूर्धन्य हैं।

नव तालव्याः इईइ३ इतीवर्णं चछजझञ यशा एकार श्चेति ।

ह्रस्व दीर्घ प्लुत इकार एकार सकार तथा च वर्ग ये नव वर्ण तालव्य हैं।

अष्टौ दन्त्याः ऌ ॡ ऌ३ इति ऌवर्णं त थ द ध न लकार सकारा इति ।

ह्रस्व दीर्घ प्लुत लृकार लकार सकार एवं त वर्ग ये आठ दन्त्य कहे जाते हैं।

नव ओष्ठ्याः उ ऊ ऊ३ इत्युवर्ण प फ ब भ म वकारो-पध्मानीया ओकार श्चेति ॥

ह्रस्व दीर्घ प्लुत उकार ओकार वकार उपध्मानीय तथा प वर्ग ये नव ओष्ठ्य हैं ॥

एको दन्तमूलीयो रेफः ।

दन्त मूल स्थान वाला रकार एक है ।

सप्त जिह्वामूलीयाः ऋ ॠ ऋ३ इत्यृवर्ण ᳵक, कखगघङा इति ।

ह्रस्व दीर्घ प्लुत ऋकार ᳵक तथा वर्ग ये सात जिह्वा मूल से उच्चरित होने के कारण जिह्वा मूलीय कहे जाते हैं ।

चत्वारो यमाः कुँ खुँ गुँ घुँ इति ।

अनुनासिक गुण विशिष्ट वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ ये चार प्रकार के यम होते हैं ।

रुक्क्मेति प्रथमो ज्ञेयः 'सक्थ्ना' इत्यपरोभवेत् ।
विद्ग्माते तु तृतीयश्च जम्भेद्दध्म श्चतुर्थकः ॥ ९८ ॥

वर्ग के आदि रूप यम का उदाहरण "रुक्क्मः" है । द्वितीय का उदाहरण "सक्थ्ना" है । विदद्माते" तृतीय यम का उदाहरण है । "जम्भेदद्ध्मः" चतुर्थ प्रकार के यम का उदाहरण है ॥ ९८ ॥

अपञ्चमैश्चैरूपदे संयुक्त पञ्चमाक्षरम् ।
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्गं पूर्वाक्षरस्य हि ॥ ९९ ॥

पद के मध्य में वर्गों का अन्त्य वर्ण वर्गों के प्रथम द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ वर्णों के साथ संयुक्त हो तो दोनों के बीच में पूर्व वर्ण के

समान ही वर्ण उत्पन्न होता है उसे यम कहते हैं। यम पूर्वाक्षर का ही अंग होता है ॥ ९९ ॥

पञ्चमा शषसै युक्ता अन्तस्थैर्वापि संयुताः ।
यमा स्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवाः ॥ १०० ॥

अन्तस्थ एवं उष्मासंज्ञक वर्णों से परे वर्ग के पंचमाक्षर संयुक्त हों तो वहां यम नहीं होते। श्मशान से शव को छोड़ कर बान्धव गण जिस तरह लौट आते हैं उसी प्रकार यम वहां से निवृत्त हो जाते हैं ॥ १०० ॥

उदाहरण—"आस्म्मिन्" "विल्म्मिने इत्यादि।

चतुर्थश्च तृतीयेन द्वितीयं प्रथमेन च ।
आद्यं मध्यं तथान्त्यञ्च स्वरुपेणाभिपीडयेत् ॥ १०१ ॥

संयोगावस्था में चतुर्थ वर्णों को तृतीय वर्णों के रूप में तथा द्वितीय वर्णों को प्रथम वर्णों के रूप में द्वित्व (अभिपीडन) करना चाहिए। वर्गों के आदि मध्य अन्त्य वर्ण अपने अनुरूप ही द्वित्व को प्राप्त होते हैं ॥ १०१ ॥

प्रथमाश्च तृतीयाः स्युः परे घोषवति स्थिते ।
पञ्चमाः पञ्चमे पाठे द्वितीयाः शषसेषु च ॥ १०२ ॥

संहिता पाठ में घोष वर्ण परे रहते वर्गों के प्रथमाक्षर अपने तृतीयाक्षर के रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे यत्+ग्रामे=यद्ग्रामे इत्यादि यहां पर द्वित्व होने पर भी यद्द् ग्रामे यही होगा। पञ्चमाक्षर के परे रहते प्रथमाक्षर भी अपने वर्ग के पञ्चमाक्षर में परिवर्तित हो जाते हैं जैसे वाक्+मात्या=वाङ्ङ्मात्या इत्यादि। शषस परे रहते प्रथमाक्षर अपने द्वितीयाक्षर में परिणत हो जाते हैं जैसे अनुष्टुप्+शारदी=अनुष्टुप् फ्शारदी इत्यादि ॥ १०२ ॥

उपांशु त्वरितं चैव योऽधीते वित्रसन्नपि ।
अपरुपसहस्राणां सन्देहेषु प्रवर्तते ॥ १०३ ॥

अत्यन्त धीमे स्वर में तथा अत्यन्त शीघ्रता से एवं डरता हुआ जो वेदाध्ययन करता है वह नाना प्रकार के अपशब्दों के सन्देह में पड़ता है ।। १०३ ।।

पञ्च विद्यां न गृह्णन्ति चण्डास्तब्धाश्चये नराः ।
अलसा रोगिणश्चैव येषां च विस्मृतं मनः ।। १०४ ।।

क्रोधी जड़बुद्धि, आलसी, रोगी, और धारणाशक्ति से रहित ये पांच प्रकार के लोग विद्या ग्रहण नहीं कर पाते हैं ।। १०४ ।।

अहेरिव गणाद्भीतः सम्मानान् नरकादिव ।
राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामभिगच्छति ।। १०५ ।।

जनसमूह से साँप के समान एवं सम्मान से नरक के समान तथा स्त्रियों से राक्षसो के समान जो डरता रहता है विद्या वह प्राप्त करता है ।। १०५ ।।

न भोजन विलम्बीस्यान्न च नारी निबन्धनः ।
सुदूरमपि विद्यार्थं व्रजेद् गरुड़हंसवत् ।। १०६ ।।

भोजन में बिलम्ब न करे । नारी के वश में न रहे। जिस प्रकार हंस और गरुड़ अपने इष्ट प्राप्ति के लिए दूर तक जाते हैं उसी प्रकार विद्या प्राप्ति के लिए दूर तक गमन करे ।। १०६ ।।

सुखार्थी चेत् त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी चेत् त्यजेत्सुखम् ।
सुखिनस्तु कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम् ।। १०७ ।।

सुख की इच्छा हो तो विद्या का त्याग करे। विद्या की कामना हो तो सुख का त्याग करे। सुख चाहने वालों को विद्या कहां ? और विद्यार्थी को सुख कहां ? ।। १०७ ।।

गुणिता शतशो विद्या सहस्त्रावर्तिता पुनः ।
आगमिष्यति जिह्वाग्रे स्थलम् निम्नमिवोदकम् ॥१०८॥

जिस प्रकार नीचे स्थल पर जल शीघ्र ही आ जाता है उसी प्रकार शत बार अभ्यस्त एवं पुनः सहस्त्रबार अभ्यास करने पर विद्या जिह्वाग्र हो जाती है ॥ १०८ ॥

शतेन गुणिताऽयाति सहस्त्रेण च तिष्ठति ।
शतानां च सहस्त्रेण प्रेत्य चेह च तिष्ठति ॥ १०९ ॥

सौ बार अभ्यास करने पर विद्या (मंत्र) कण्ठस्थ हो जाता है। एक हजार बार अभ्यास करने पर विद्या जीवन भर भूलती नहीं है। एक लाख बार अभ्यास करने पर जन्मान्तर में भी उपस्थित होती है इस जन्म में तो रहता ही है ॥ १०९ ॥

जलमभ्यासयोगेन शैलानां कुरुते क्षयम् ।
कर्कशानां मृदुस्पर्शं किमभ्यासान्न साध्यते ॥ ११० ॥

कोमल जल नित्य गिर कर कठोर पत्थरों को भी चूर्ण कर डालते हैं। अभ्यास से क्या नहीं होता ? ॥ ११० ॥

यथा पिपीलिकाभिश्च क्रियते पांसुसञ्चयम् ।
न चात्र बलसामर्थ्यं मुद्यमस्तत्र कारणम् ॥ १११ ॥

चीटियां बड़े-बड़े मिट्टी के टीले बना डालती हैं उसमें उनका अभ्यास ही कारण है बल नहीं ॥ १११ ॥

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य तु सञ्चयम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद् दानाध्ययनकर्मसु ॥ ११२ ॥

आंखों में थोड़ा-थोड़ा लगाने पर भी डिब्बे का आंजन समाप्त हो जाता है। दीमकें धीरे-धीरे टीला बना लेती हैं इन घटनाओं का देखकर नित्य प्रति अध्ययन और दान करते रहना चाहिए ॥ ११२ ॥

हयानामिव जात्याना मर्धरात्रार्धशायिनाम् ।
नहि विद्यार्थिनां निद्राचिरं नेत्रेषु तिष्ठति ॥ ११३ ॥

उत्तम जाति के घोड़े जिस प्रकार आधी रात के भी आधे तक ही सोते हैं उसी प्रकार विद्यार्थी को अधिक नहीं सोना चाहिए ॥ ११३ ॥

अन्नव्यञ्जनयो र्भागौ तृतीयमुदकस्य च ।
वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमुपकल्पयेत ॥ ११४ ॥

आधा पेट अन्न और व्यञ्जन से भरे। तृतीय भाग जल से पूरा करे। तथा एक भाग (चौथा) वायु के लिए खाली रखे। भर पेट भोजन न करे ॥ ११४ ॥

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ ११५ ॥

मनुष्य कुदाल से खनते-खनते पानी पा लेता है उसी प्रकार विद्यार्थी गुरु की सेवा से विद्या प्राप्त करता है ॥ ११५ ॥

शुश्रूषा रहिता विद्या अपि मेधागुणैर्युता ।
वन्ध्येव युवती तस्य न विद्या फलिनी भवेत् ॥ ११६ ॥

गुरु की सेवा से रहित उपायान्तर से प्राप्त विद्या मेधादि गुणों (व्याख्यान-अध्ययन) से युक्त होने पर भी रूपवती वन्ध्या स्त्री के समान निरर्थक होती है ॥ ११६ ॥

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा ।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नोपलभ्यते ॥ ११७ ॥

विद्या गुरु की सेवा से प्राप्त होती है। अथवा अत्यधिक धन व्यय करनेपर आती है। इन दो उपायों अतिरिक्त अध्यापन से भी विद्या आती है ये ही तीन उपाय विद्या प्राप्ति के हैं चौथा कोई उपाय नहीं है ॥११७॥

बह्वीर्जिह्वा यथा गृह्णात्यन्हा वह्निस्तथैव च ।
ब्रह्मरूपं विजानीयाद् गुरुमेवात्मनः सदा ।। ११८ ।।

जिस प्रकार अग्नि अपनी ज्वालाओं को शीघ्र ही समेट लेता है उसी प्रकार गुरु भी रुष्ट होकर अपनी अध्यापित विद्या ले लेते हैं। अपने गुरु को सर्वदा ब्रह्म रुप मानना चाहिए ।। ११८ ।।

यत्किञ्चिद् वाङ्मयं लोके सर्वमत्र प्रतिष्ठितम् ।
करोति तत्प्रदानं यत् तस्माद् ब्रह्मभयोगुरुः ।। ११९ ।।

इस संसार में जो कुछ भी शब्द जाल फैला हुआ है वह सभी वेदों में प्रतिष्ठित है। उस वेद का अध्यापन करने वाला गुरु ब्रह्म के हो समान है ।। ११६ ।।

विधिज्ञेनाऽप्यविधिज्ञान मविधानान्नलभ्यते ।
अविधान परो नित्यं प्रायश्चित्तीयते नरः ।। १२० ।।

विधि को जानने वाला व्यक्ति भी अनुष्ठान न करने से निष्फलत्व को नहीं प्राप्त करता क्या ? अपितु करता ही है। विधान रहित कर्मानुष्ठान करने से मनुष्य प्रायश्चित्ती होता है अतः योग्य गुरु से शुश्रूषा एवं श्रद्धापूर्वक अध्ययन करना चाहिए ।। १२० ।।

युक्ति युक्तं वचो ग्राह्यं न ग्राह्यं गुरु गौरवात् ।
सर्वशास्त्र रहस्यं तद् याज्ञवल्क्येन भाषितम् ।। १२१ ।।

गुरु की भी वाणी युक्तियुक्त हो तो ग्रहण करना चाहिए। केवल गुरु के गौरव से नहीं ग्रहण करना चाहिए। सभी शास्त्रों के रहस्य को याज्ञवल्क्य जी ने कह दिया है ।। १२१ ।।

याज्ञवल्क्य शिक्षा प्रकाशिका टीका समाप्त ।।

श्लोकानामकारादिक्रमेण सूचीः

ह

ज्ञ